आगम चरित्र-माला

ग्रन्थ . १

अर्हत् अरिष्टनेमि

और

वासुदेव कृष्ण

लेखक

श्रीचन्द रामपुरिया, बी० काम०, बी० एल०

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में
प्रकाशित

प्रकाशक :

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता–१

प्रथमावृत्ति: १,२०

मार्च : १९६० ई०

वि० सं० २०१६

मूल्य · एक रुपये पचीस नये पैसे

मुद्रक .

मित्रा एण्ड कम्पनी,

१२, ग्रांट लेन

कलकत्ता–१२

प्रकाशकीय

आगम चरित्र-माला का यह प्रथम ग्रन्थ तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में पाठकों के समक्ष रखा जाता है। भारतीय संस्कृति के दो महान् पुरुषों का जीवन-चरित्र प्रामाणिक सामग्री के साथ इसमें प्राप्त होगा। यह पुस्तक विद्वानों के सम्मुख अनुसंधान और चिन्तन के नये तथ्य उपस्थित करेगी। महासभा की साहित्य-प्रकाशन योजना एक विशाल दृष्टिकोण से कल्पित है। द्विशताब्दी समारोह तो उस महान् योजना का निमित्त मात्र है। जैन धर्म दर्शन और संस्कृति को समझने में सहायक प्रामाणिक पुस्तकों को प्रकाशित करते रहना—इस योजना का उद्देश्य है।

आकार में लघुकाय होने पर भी यह पुस्तक शोध-खोज के क्षेत्र में विशेष महत्व का स्थान प्राप्त करेगी, ऐसी आशा है।

तेरा० द्विशताब्दी समारोह व्यवस्था उप-समिति **श्रीचन्द रामपुरिया**

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट व्यवस्थापक

कलकत्ता साहित्य - विभाग

भूमिका

डॉ. बाशम ने अपनी हाल ही में प्रकाशित एक पुस्तक में लिखा है: "चूंकि वर्धमान महावीर का उल्लेख बौद्ध-पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्धी के रूप में मिलता है, अतः उनकी ऐतिहासिकता सन्देह से परे है। प्रारम्भ में वे उस श्रमण संघ, जिसे कि निर्ग्रन्थ संघ के नाम से पुकारा जाता था और जो उनके करीब २०० वर्ष पूर्व पार्श्व द्वारा स्थापित किया गया था, की मान्यता के अनुयायी थे। बाद में यह 'निर्ग्रन्थ' शब्द महावीर द्वारा स्थापित संघ के श्रमणों के लिए प्रयुक्त होने लगा। और पार्श्व जैनों के २४ तीर्थंकरों में से २३वें तीर्थंकर के रूप में स्मरण किये जाने लगे[१]।"

[१] The wonder that was India (B.A L. Basham, B.A., Ph. D., F.R.A.S.): reprinted 1956 pp. 287-88: "...As he (Vardhamana Mahavira) is referred to in the Buddhist scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt.
At first he followed the practices of an ascetic group called the Nirgranthas ("Free from Bonds"), which had been founded some 200 years earlier by a certain Parsva. The term Nirgrantha was later used for the members of the order which Mahavira founded, and Parsva was remembered as the twenty-third of the Twenty-four great teachers or Tirthankaras ("ford-makers") of the Jaina faith."

इसी तरह प्रसिद्ध विद्वान् राधाकमल मुखर्जी लिखते हैं "पार्श्व जो कि सम्भवत एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, बनारस के एक राजा के पुत्र थे। वे चातुर्याम धर्म को मानते और उसका प्रचार करते थे। यह धर्म महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म से काफी सादृश्य रखता था[१]।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जैनो के २४ तीर्थंकरो मे से वर्धमान और उनके पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ के अस्तित्व को इतिहासज्ञ स्वीकार करने लगे हैं पर उनके पूर्व के तीर्थंकरों के विषय मे वे अधिकाशत आज भी उतने ही संदिग्ध हैं जितने कि ५० वर्ष पूर्व थे, और वे उनके अस्तित्व को स्वीकार करने को प्रस्तुत नही।

इस पुस्तक मे २२वे तीर्थंकर अर्हत् अरिष्टनेमि के जीवन-वृत्तातो को जैन-आगमो मे एकत्रित कर उनकी सहज जीवनी उपस्थित की गयी है। अर्हत् अरिष्टनेमि के जन्म-स्थान, वश, प्रव्रज्या, साधना, व्यक्तित्व और धर्म-प्रचार के विषय मे जो प्रामाणिक और सहज मानवीय घटनाये मिलती हैं उनको देखते हुए उनकी ऐतिहासिकता के विषय मे किसी को भी शंका करने का कोई कारण नही रह जाता। इस पुस्तक मे उनके अनेक जीवन-प्रसगो

१—The Culture and Art of India (1959) pp. 77: "Parsva, who was probably a historical figure, the son of a King of Banarasa, practised and preached a religion of Four Vows that greatly resembled the faith of Mahavira."

का भी प्राय मूल-स्पर्शी भाषा में सविस्तृत वर्णन मिलेगा।

डां० राधाकृष्णन ने लिखा है: "इसमें कोई सन्देह नही कि जैन-धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ के पहले भी विद्यमान था[1]।"

इस पुस्तक के पढ़ने के बाद इस तथ्य की पुष्टि ही होगी कि पार्श्व के पूर्ववर्ती २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और वे कृष्ण के समकालीन थे।

परिनिर्वाण के प्रकरण में कुछ बातें ऐसी हैं जो कल्पना प्रसूत लगे पर उनमें ऐसा कुछ भी नहो जो अर्हत् अरिष्टनेमि के अस्तित्व के विषय मे सन्देह उत्पन्न करे।

अरिष्टनेमि का जन्म सौरियपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा था। वे गौतम गोत्रीय थे। उन्हे वृष्णि-पुंगव अथवा अंधक वृष्णि की सन्तान कहा गया है। कृष्ण उनके चचेरे भाई थे और आयुष्य मे उनसे बड़े थे।

अरिष्टनेमि की सगाई भोगराज उग्रसेन की कन्या राजीमति के साथ हुई थी। बारात बड़ी सजधज के साथ रवाना हुई। विवाह-

---

१—Indian Philosophy Vol. I p. 287: "Jain Tradition ascribes the origin of the system to Rishabhadeva, who lived many centuries back. There is evidence to show that so far back the first century B.C., there were people who were worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhaman or Parsvanath".

स्थान के समीप पहुँचने पर बाडो में सन्निरुद्ध, अत्यन्त दुःखित और भयाकुल प्राणियों की कराहट की आवाज अरिष्टनेमि के कानों में पड़ी। विवाह-भोज के लिए इस पशु-संहार की बात सुनकर अरिष्टनेमि का हृदय काँप उठा। उन्होंने सोचा "यदि मेरे कारण ये बहुत से जीव मारे जायंगे तो यह मेरे लिए परलोक में निःश्रेयस का हेतु नहीं होगा।" यह सोच उन्होंने विवाह के विचार का ही त्याग कर दिया और द्वारका से निकल, रैवतक पर्वत पर पहुँच, अशोक वृक्ष के नीचे प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

इस तरह अरिष्टनेमि अहिंसा के महान् पुरस्कर्ता के रूप में हमारे सामने आते हैं। उस समय की क्रूर पशु-हिंसा के विरुद्ध उन्होंने सक्रिय कदम उठाया और उसका असर बड़ा व्यापक हुआ।

राजकन्या राजीमति रूप लावण्य में असाधारण थी। इस अनुपम राजकन्या का आकर्षण छोड़ तरुणावस्था में त्याग-मार्ग ग्रहण कर उन्होंने आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया। अरिष्टनेमि इसी कारण ब्रह्मचारियों में श्रेष्ठ माने जाते हैं।

अरिष्टनेमि के जीवन-प्रसंगों को लेकर श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में अनेक काव्यों की रचना हुई है। भारतीय संस्कृति पर उन्होंने अपने जीवन और विचारों से गम्भीर प्रभाव डाला है।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने विनयमूल धर्म का प्रचार किया। विनय मूल धर्म का अर्थ है वह धर्म जो आत्मा के विनयन—उसकी शुद्धि में सहायक हो। दैहिक पवित्रता को वे मोक्ष का मार्ग नहीं मानते

थे और इसी कारण उन्होंने शोषमूलक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति की तीव्र आवाज़ बुलन्द की।

वेदों में एक ऋचा है जिसमें 'अरिष्टनेमि' नाम मिलता है

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु[1]॥

उनमें अन्य भी ऐसे स्थल हैं जहां इस शब्द का प्रयोग मिलता है।

इनमें आये हुए अरिष्टनेमि अर्हत् अरिष्टनेमि ही हैं या कोई अन्य यह अभी खोज का विषय है पर कुछ विद्वान् मानते हैं कि ये उल्लेख अर्हत् अरिष्टनेमि विषयक हैं[2]।

डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं "यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजित नाथ तथा अरिष्टनेमि—इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है[3]।"

महाभारत में अनुशासन पर्व में निम्न श्लोक मिलते हैं

अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मीपद्मनिभेक्षणः॥५०॥
कालनेमिनिहावीरः शौरिः शूरजनेश्वरः।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहाहरिः॥८२॥

१—ऋग्वेद १, १, १६; यजुर्वेद २५, १९; शामवेद ३, ९।
२—Jainism The Oldest Living Religion (Jyoti Prasad Jain M. A., LL. B.) p. 22
३—Indian Philosophy Vol. I. p. 287·
"The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Arishtanemi".

इन श्लोकों में 'शूरः शौरिर्जनेश्वरः' शब्दों के स्थान में "शूरः शौरिर्जिनेश्वरः" पाठ मानकर इनका अर्थ अरिष्टनेमि किया गया है।

अर्हत् अरिष्टनेमि के साथ इस पुस्तक में आगमों के आधार पर कृष्ण का चरित्र भी अंकित किया गया है।

धर्मवीर अरिष्टनेमि के साथ कर्मवीर कृष्ण का चरित्र क्यों जोड़ा गया, यह एक प्रश्न हो सकता है? इसका सहज उत्तर यह है कि अर्हत् अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण के जीवन वृत्त स्वतः जुड़े हुए हैं।

कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे और अर्हत् अरिष्टनेमि वसुदेव के ज्येष्ठ भ्राता समुद्रविजय के पुत्र। इस तरह दोनों एक वंश और परिवार के थे। इतना ही नहीं दोनों महापुरुषों के जीवन-वृत्तांत परस्पर इतने सम्बन्धित हैं कि एक के वर्णन के साथ दूसरे का उल्लेख आवश्यक हो जाता है।

जैन-आगमों में दोनों महापुरुषों के जीवन-वृत्तांतों का विस्तृत उल्लेख रहने पर भी यह एक आश्चर्य की ही बात है कि ब्राह्मण-परम्परा के ग्रन्थों में कृष्ण के वर्णन के साथ अर्हत् अरिष्टनेमि के जीवन-वृत्तांत का कुछ भी उल्लेख नहीं। सम्भवतः इसके पीछे किसी अमुक प्रकार की मनोवृत्ति ने कार्य किया हो।

जैन-आगमों के अनुसार कृष्ण अर्हत् अरिष्टनेमि के परम भक्त थे और उनके परिवार के अनेक पुरुषों ने उनके समीप प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

हिन्दू-शास्त्रों के अनुसार कृष्ण की संक्षिप्त जीवनी इस प्रकार दी जा सकती है:

कृष्ण विष्णु के दश अवतारों में से आठवें अवतार थे। इन का जन्म मथुरा में हुआ था। जैन-आगमों में अवतार की कल्पना तो हो ही नहीं सकती। उनके अनुसार कृष्ण का जन्म सम्भवतः सोरियपुर में हुआ था।

वे यदु-वंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। जैन-आगमों के अनुसार भी उनके पिता का वसुदेव ही था और वे अन्धकवृष्णि अथवा वृष्णि कुल में उत्पन्न हुए थे।

उस समय मथुरा का राजा कंस था। वह देवकी का भाई था। कंस की धारणा थी कि उसका वध देवकी के आठवें पुत्र के हाथ होगा। इस भय से वह देवकी के पुत्रों को जन्म होते ही मरवा डालता। पर कृष्ण और उनसे ज्येष्ठ बलराम की किसी तरह रक्षा हो पायी। उनका पालन-पोषण गोपाल नन्द और उसकी पत्नी यशोदा के द्वारा हुआ। कंस को कृष्ण और बलराम के बच जाने की बात का पता चल गया। उसने सारे बालकों के वध की आज्ञा दे दी।

नन्द ने दोनों बालकों को पहले ब्रज और फिर वृन्दावन भेज दिया। इस तरह दोनों भाइयों की जीवन-रक्षा हुई। कृष्ण के जीवन की इस घटना का उल्लेख जैन-आगमों में नहीं मिलता।

कृष्ण का बाल-जीवन चमत्कारिक घटनाओं से भरा पड़ा है। कंस द्वारा भेजे हुए अघ नामक महासुर ने विशाल विस्तृत मुखवाले सर्प का रूप धारण किया। वह कृष्ण तथा उसके हजारों साथी

बालकों को निगल गया। कृष्ण ने उसके गले में प्रवेशकर इतना बड़ा रूप धारण किया कि उसका सांस लेना ही रुक गया और उसका तुरन्त प्राणान्त हो गया। पूतना राक्षसी ने कृष्ण को दुर्जर विषमय स्तन-पान कराना चाहा। कृष्ण ने इतने दबाव और रोष के साथ स्तन-पान किया कि वह तुरन्त मर गयी। इसी तरह उन्होंने कुवलयापीड नामक हस्ति का मर्दन किया।

एक बार यमुना के किनारे ब्रज में आग लगी। कृष्ण ने अग्नि पानकर उसे शान्त किया। गोवर्द्धन पर्वत को हथेली पर उठाकर उन्होंने एक बार संवर्तक मेघ-वर्षा से गोपालों की रक्षा की। कालिय सर्प के फनों पर नाचकर उन्होंने उसका मद-मर्दन किया। इस तरह की और भी अनेक घटनाओं का वर्णन भागवत में है।

इन सब घटनाओं का उल्लेख जैन-आगमों में नहीं मिलता पर मान-मर्दक के रूप में कृष्ण के जीवन की अन्य अनेक घटनाओं का उल्लेख वहां आया है। कृष्ण ने अति भयंकर गर्जन करते हुए घमण्डी चाणूरमल्ल का विनाश किया। चाणूर कंस का एक असुर था। मल्लयुद्ध में उसके वध की कथा भागवत में भी है। रिष्ट नामक दुष्ट बैल का वध किया। भागवत में भी वृषभासुर अरिष्ट बैल के वध की कथा है। दुष्ट नाग के दर्प-मंथन की घटना का भी उल्लेख है। यमलार्जुन वृक्षों का रूप धारण कर उन्होंने विद्याधरों का मान भंग किया। उसके विपरीत यमलार्जुन वृक्षों के पतन द्वारा गुह्यकों के उद्धार की कथा भागवत में है। दुष्ट महाशकुनि और पूतना का विनाश भी उन्होंने किया।

हिन्दू-ग्रन्थों के अनुसार पूर्ण युवावस्था में कृष्ण बड़े रसिक थे। वे मधुर गीत गाते। उनके गीत को सुनकर आस-पास बसनेवाली गोपियाँ इकट्ठी हो जातीं, रास करतीं और रसिक कृष्ण बंशी बजाकर उनकी रास-लीलाओं में भाग लेते। राधा उनकी प्रिय सखी थी। जैन-आगमों में ऐसे रसिक कृष्ण के उल्लेख नहीं मिलते।

आखिर में कृष्ण कंस का वध करने में समर्थ हुए और मथुरा के राज्य पर अधिकार कर लिया। जैन-आगम में उल्लेख है कि कृष्ण ने कंस का मुकुट-मर्दन किया।

ऐसा वर्णन मिलता है कि मथुरा को अधीन कर लेने पर भी कृष्ण उसको अधिक वर्षों तक अपने अधिकार में नहीं रख सके। मगध अधिपति जरासंध (ये कंस के श्वसुर थे) के आक्रमण के कारण कृष्ण को मथुरा का राज्य छोड़ना पडा, और उन्होंने द्वारका को अपनी राजधानी बनायी।

जैन-आगमों में जरासंध के साथ युद्ध का उल्लेख है परन्तु इसमें कृष्ण की पराजय नहीं जीत हुई थी। कृष्ण को मथुरा छोड़ कर जाना पडा इसका जैन-आगमों में उल्लेख नहीं। जरासंध ने कृष्ण के साथ चक्र युद्ध किया था और स्व चक्र से ही हत होकर वह मारा गया।

द्वारिका को राजधानी बनाने के बाद कृष्ण ने विदर्भ की राजकन्या रुक्मिणी को अपनी प्रधान रानी बनाया। कृष्ण की कुल रानियों की संख्या १६,००० थी और उनके १८०,००० पुत्र थे। जैन-आगमों में रुक्मिणी का नामोल्लेख नहीं है। रुप्पिणी नाम

अवश्य मिलता है। रुक्मिणी को पाने के लिए कृष्ण को शिशुपाल के साथ युद्ध करना पड़ा था। जैन-आगमों के अनुसार कृष्ण के आठ महिषियां थीं जिनमें पद्मावती देवी सर्वप्रमुख थी। उनकी रानियों की संख्या तो यहाँ भी १६,००० ही मिलती है पर नामोल्लेख ६ के ही मिलते हैं। उनके पुत्रों की संख्या का उल्लेख नहीं मिलता पर साम्ब और प्रद्युम्न दो पुत्र निश्चित रूप से थे। उनके एक पौत्र अनिरुद्ध का नामोल्लेख है।

कौरव और पाण्डवों के बीच जो महायुद्ध हुआ उसमें कृष्ण पाण्डवों के सलाहकार और निर्देशक रहे। उन्होंने युद्ध-क्षेत्र मे ही अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। जैन-आगमों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं।

कुरु में पाण्डवों की पुनः स्थापना के बाद कृष्ण द्वारका लौटे। यादव कुमारों में आपस में संघर्ष छिड़ गया। द्वारका की रक्षा के लिये कृष्ण ने नगरी में मद्यपान का निषेध किया। पर एक दिन एक उत्सव पर यदुकुमार मद्य में चूर हो परस्पर मार-काट करने लगे। कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न मार डाला गया। भाई बलराम भी मारे गये। इस तरह सारा परिवार नाश को प्राप्त हुआ। कृष्ण दुखित हो समीप के जंगल में चले गये। वहाँ वे एक झाड़ी के पास में चिन्ताग्रस्त हो लेट गये। एक शिकारी ने उन्हें हरिण समझ उनपर बाण छोड़ा। बाण सीधा पैर के तलवे में लगा और कृष्ण की मृत्यु हो गयी। इसके बाद द्वारका समुद्र द्वारा ग्रसित हुई।

जैन-आगमों में भी द्वारवती नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि

श्रौर द्वीपायन से बताया गया है। कृष्ण की मृत्यु के विषय में सामान्य अन्तर है। द्वारवती नगरी द्वीपायन देव के कोप से भस्म हुई। कृष्ण माता-पिता और स्वजनों से रहित हुए। केवल राम बलदेव बचे। उनको ले वे दक्षिण दिशा के किनारे बसी पाण्डु मथुरा की ओर अग्रसर हुए। पाण्डु राजा के पुत्र पाँचों पाण्डव उस समय मथुरा में रहते थे। रास्ते में कौशाम्बी नगरी के वन में न्यग्रोध वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर पीत वस्त्र द्वारा शरीर को आच्छादित कर कृष्ण आराम लेने लगे। उस समय जरा कुमार द्वारा कोदण्ड से छोड़ा गया तीक्ष्ण वाण उनके बायें पैर में लगा। उससे बिधे जाकर कृष्ण मृत्यु को प्राप्त हुए।

इस पुस्तक में कृष्ण की जन्मभूमि और माता-पिता, उनके वंश, निवासस्थान, आधिपत्य, उनके समकालीन व्यक्ति, व्यक्तित्व तथा उनके जीवन-प्रसंगों का आगमों के आधार पर आकलन है। कृष्ण के जीवन और कर्तृत्व से सम्बन्धित अनेक नये तथ्य यहाँ मिलते हैं जिनसे उनके व्यक्तित्व पर अभिनव प्रकाश पड़ता है।

मक्खन चोर कृष्ण, गोपी-रसिक कृष्ण का दर्शन इस वर्णन में नहीं है। कृष्ण के जीवन के ये पहलू वास्तव में ही बहुत अर्वाचीन हैं। इतिहासज्ञ इसमें एकमत हैं। उनका वास्तविक जीवन एक विचक्षण निष्णात योद्धा और संकट-मोचक का ही है। यही रूप असली और प्राचीन है। जैन-आगमों में ऐसा ही विशुद्ध रूप मिलता है।

आगमिक वर्णन में कृष्ण एक महारथी के रूप में प्रगट होते हैं।

वे परम पुरुष कहलाते थे और अपने युग के वासुदेव थे। वे ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और महान् यशस्वी पुरुष थे। बड़े स्वाभिमानी और अप्रतिहत बली थे।

वे शरणागतवत्सल और शरणयोग्य थे। संकटमोचन उनका स्वभाव था। वे मुकुल मुख और मंजुल भाषी थे। वे आपूतिवचन —वचन के बड़े पक्के थे। वे अत्यन्त आनक्रोश हृदय के विशाल व्यक्ति देखे जाते हैं।

महाभारत के अनुसार कृष्ण गीता के उद्बोधक हैं। जैन आगमों मे वे अर्हत् अरिष्टनेमि के परम भक्त के रूप में देखे जाते हैं। छांदोग्य उपनिषद मे कहा गया है कि देवकी पुत्र कृष्ण ने घोर आंगिरस से आत्मज्ञान प्राप्त किया। घोर आंगिरस ने कृष्ण को बताया कि तप, दान, नम्रता, अहिंसा और सत्य—ये पुरुष के लिए यज्ञ की दक्षिणा की तरह हैं[1]। स्व० बौद्ध भिक्षु धर्मानन्द कोसाम्बी ने घोर आंगरस और अरिष्टनेमि एक ही व्यक्ति होने की सम्भावना प्रगट की है। (भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० २७ पैरा ७९)

कृष्ण रानियो सहित अनेक बार अर्हत् अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए गये थे। किसी की प्रव्रज्या के समय उत्सव की तैयारी मे वे अग्र रूप से भाग लेते और इतना ही नही प्रव्रजित व्यक्ति के परिवार जन के भरण-पोषण तक का भार भी अपने पर ले लेते।

१—छांदोग्य उपनिषद ३ ख० १७

अर्हत् अरिष्टनेमि और वासुदेव कृष्ण भारतीय संस्कृति के दो महान पुरस्कर्ता हैं। जैन-धर्म के परम भक्त होने पर भी कृष्ण त्याग-प्रत्याख्यान नहीं कर पाये पर उनकी दृष्टि सदा सम्यक् रही। उनका जीवन असाधारण संग्राममय रहा। अर्हत् अरिष्टनेमि निवृत्ति मार्ग के ऋषि थे। वे श्रमण संस्कृति के अन्यतम उपदेष्टा—तीर्थंकर थे।

कृष्ण ने एक बार पूछा—"मैं यहाँ से मरकर कहाँ जाऊँगा?" अर्हत् ने उत्तर दिया—"तीसरी नारकी में।" कृष्ण उदासीन हो गये। दूसरे ही क्षण अर्हत् ने कहा—"आर्तध्यान क्यों करते हो? तुम नरक भूमि से निकल इसी जम्बु द्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी में पाण्डु जनपद में शतद्वार नामक नगर में बारहवें अमम नामक अरिहंत—तीर्थंकर होवोगे।"

भावी तीर्थंकर कृष्ण का अर्हत् अरिष्टनेमि कालीन जीवन बड़ा संग्राममय रहा। अनेक युद्ध उन्होंने अपने जीवन-काल में किये। अनेक नर-संहार में उन्हें भाग लेना पड़ा। इन्हीं युद्धों के कारण उनकी तुरंत की गति नारकीय ही हुई। परम भक्त होने पर भी जो संग्राम जैसी विकट हिंसाओं में प्रवृत्ति करता है वह स्वाभाविक गति से बच नहीं पाता। यह तथ्य का निरूपण है। सम्यक् दृष्टि भी अपना फल अवश्य देती है और यही कृष्ण के भावी तीर्थंकर बनने की बुनियाद है।

पुस्तक के अन्त में कतिपय तालिकायें दे दी गयी हैं जिनसे अर्हत् अरिष्टनेमि और कृष्ण का अच्छा वंश परिचय मिल जायेगा।

और हिन्दू शास्त्रगत उल्लेखों से तुलना का अवसर प्राप्त होगा।

मूल वर्णन में पारिभाषिक शब्दों को रखने की दृष्टि रहने से परिशिष्ट में उन शब्दों का कोष लगा दिया गया है जिससे पाठकों को मूल समझने में कोई कठिनाई नही रहेगी।

इस पुस्तक के निर्माण में जिन विद्वानों की पुस्तकों का सहारा लिया गया है उनके प्रति लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है।

यदि यह पुस्तक ऐतिहासिक दृष्टि से नयी खोज का आधार बन सकी तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता

श्रीचन्द रामपुरिया

फाल्गुन शुक्ला १५, २०१६

अनुक्रमणिका

अर्हत् अरिष्टनेमि
और
वासुदेव कृष्ण

: १ :

अर्हत् अरिष्टनेमि

बाइसवें तीर्थंकर

जैनो के २४ तीर्थंकरो में वर्द्धमान, जिन्हें साधारण रूप से भगवान् महावीर के नाम से जाना जाता है, वर्त्तमान अवसर्पिणी कालचक्र भाग के अन्तिम तीर्थंकर हैं। उनके पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ और पुरापूर्ववर्त्ती तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे। इस तरह अरिष्टनेमि बाइसवें तीर्थंकर हुए[1]।

१ : जन्म

अर्हत् अरिष्टनेमि वर्षा-ऋतु के चौथे मास—कार्त्तिक महीने के कृष्णपक्ष की द्वादशी के दिन बत्तीस सागरोपम की आयुष्य मर्यादावाले "अपराजित" महाविमान से तुरंत ही च्यवकर माता की कुक्षि में आये। उस समय रात्रि के पूर्व और अपर भाग की सन्धि-बेला थी।

१—समवायांग-सूत्र २४:१; समवायांग-सूत्र १५७:११; चतुर्विंशतिस्तव

वर्षा-ऋतु के प्रथम मास श्रावण महीने की शुक्ला पंचमी के दिन ठीक नव मास पूरे होने पर मध्य रात्रि में चित्रा नक्षत्र के योग के समय उनका जन्म हुआ[१]।

२ : वंश-परिचय

उनकी जन्मभूमि सोरियपुर थी। उनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा था[२]। उनके तीन भाइयों के नाम इस प्रकार मिलते हैं :—रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि[३]। अरिष्टनेमि का गोत्र गौतम था[४]। उन्हें एक जगह 'वृष्णि-पुंगव' कहा गया है और अन्यत्र 'अन्धक वृष्णि की सन्तान'। इससे पता चलता है कि वे 'वृष्णि' कुल या 'अन्धक वृष्णि' कुल के थे[५]।

३ : शरीर-सौष्ठव

अरिष्टनेमि एक हजार आठ लक्षणों के धारक थे। उनका शरीर शुभचिह्नों से युक्त था। स्वर उत्कृष्ट मधुर था। उनका

१—कल्पसूत्र—सू० १६२-१६३

२—उत्तराध्ययन—अ० २२:३-४; समवायांग—सू० १५०:७,१०; कल्पसूत्र—सू० १६२

३—उत्तराध्ययन—अ० २२:३६; अन्तगडदसा—वर्ग ४:६-१०

४—उत्तराध्ययन—अ०२२:५; सप्तति शत स्थान प्रकरण ३७-३८ द्वार० गाथा १०५

५ उत्तराध्ययन—२२:१३;४३; सप्तति शत स्थान प्रकरण ३७-३८ द्वार० गाथा १०५

महनन वज्र ऋषभनाराच और सस्थान समचतुरस्त्र था। उदर मछली के आकार का था[1]। उनका वर्ण कृष्ण था[2] और वे दश धनुष्य लम्बे थे[3]।

४ : प्रव्रज्या

अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की कहानी बडी रोचक और शिक्षाप्रद है। केशव (कृष्ण) ने अरिष्टनेमि के लिए भोगराज उग्रसेन से कन्या राजीमति की याचना की। राजीमति बडी ही चारु, सुशीला, सर्वलक्षणो से सम्पन्न, विद्युत और सौदामिनी की तरह प्रभाववाली तथा श्रेष्ठ राजकन्या थी। भोगराज ने कहा—"कुमार यहाँ आये तो म उन्हे अपनी कन्या दूं।" वासुदेव ने यह बात मजूर की।

फिर अरिष्टनेमि को सर्व औषधियो से स्नान कराया गया। कौतुक-मगल किये गये। दिव्य युगल पहनाये गये और आभूषणो से विभूषित किया गया। वासुदेव के ज्येष्ठ मदोन्मत्त गन्धहस्ती पर आरूढ अरिष्टनेमि इस प्रकार शोभित हो रहे थे जिस प्रकार सिर पर चूडामणि। सिर पर ऊँचा छत्र था और दोनो ओर चमर। दशार्हचक्र से वे चारो ओर से घिरे हुए थे। यथाक्रम से रची चतुरगिनी सेना तथा तूर्य और शहनाइयो से आकाश गूंज

१—उत्तराध्ययन—अ० २२:५-६
२—उत्तराध्ययन—अ० २२:५; ज्ञाताधर्म—अ० ५:५८ पृ० ६६
३—समवायांग—सू० १०:४; ज्ञाताधर्म—अ० ५:५८ पृ० ६६; निरयावलिका—व० ५:१

रहा था। इस तरह उत्तम ऋद्धि और तेज से युक्त हो अरिष्टनेमि अपने भवन से निकले। आगे बढ़ते हुए अरिष्टनेमि ने बाड़ों और पिंजरों में सनिरुद्ध अत्यन्त दुःखित और भयाकुल प्राणियों को देखा। उन्हे देख अरिष्टनेमि सारथी से पूछने लगे—"ये सब सुखैपी प्राणी किस लिए इस तरह बाड़ों और पिंजरों में सनिरुद्ध किये गये है ?" सारथी बोला—"ये समस्त भद्र प्राणी आपके विवाह-कार्य मे उपस्थित व्यक्तियों के भोज के लिए हैं।"

मांस-भोजन के लिए बहुत प्राणियों के मार्मिक विनाश का प्रसंग देख अरिष्टनेमि सानुक्रोश विचारने लगे: "यदि मेरे कारण ये बहुत से जीव मारे जायेंगे तो यह मेरे लिए परलोक मे निःश्रेयस के लिए नही होगा।" ऐसा विचार महायशस्वी अरिष्टनेमि ने कुण्डल-युगल, सूत्र और अन्य सारे आभूषण सारथी को सौंप दिया। देव और मनुष्यों से घिरी हुई उत्तम उत्तरकुरा[1] शिविका पर आरूढ हो द्वारका से निकल रैवतक पर्वत पर पहुँचे[2]। वहाँ उद्यान में पहुँच उत्तम अशोक वृक्ष के नीचे वे शिविका से उतरे और सुगन्ध से सुवासित, कोमल और आकुंचित केशों का खुद ही तुरन्त पंच-मुष्टि लोच कर डाला।

१—समवायांग—सू० १५७:१७, कल्पसूत्र—सू० १६४

२—समवायांग—सू० १५७:२२; कल्पसूत्र—सू० १६४। स्मरण रहे द्वारका नगरी अरिष्टनेमि की जन्मभूमि नहीं थी। ऋषभ और अरिष्टनेमि को छोड़ अवशेष २२ तीर्थंकरों ने अपनी जन्मभूमि से अभिनिष्क्रमण किया।

वासुदेव आदि ने लुंचित अरिष्टनेमि से कहा : "हे दमेश्वर ! शीघ्र ही इच्छित मनोरथ को प्राप्त करो। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, शान्ति और मुक्ति से वृद्धिवन्त बनो।"

इसके बाद अरिष्टनेमि ने चित्रा नक्षत्र में १००० पुरुषों के साथ वर्षा-ऋतु के प्रथम मास—श्रावण शुक्ला षष्ठी के दिन पूर्वाह्नकाल में प्रव्रज्या ग्रहण की[1]।

प्रव्रज्या के बाद राम, केशव तथा अनेक दशार्ह अरिष्टनेमि को वन्दन कर द्वारिकापुरी लौटे[2]।

अर्हत् अरिष्टनेमि के जीवन की यह घटना उनकी वैराग्य भावना का बड़ा सुन्दर परिचय देती है। रूप-लावण्य में अनुपम राजकन्या का आकर्षण छोड़ उन्होंने त्याग-मार्ग ग्रहण किया। उपस्थित भोगों को पीठ दिखाकर उन्होंने सच्चे त्यागी होने का परिचय दिया।

पशु-हिंसा का उस समय कैसा बोलबाला था, यह उपर्युक्त वर्णन से स्पष्टतः प्रकट होता है। सैकड़ों-हजारों पशु इसी तरह मृत्यु की घाट उतार दिये जाते थे। अर्हत् अरिष्टनेमि के जीवन की यह घटना उनकी गहरी अहिंसा-भावना का भी परिचय देती है। पशु-हिंसा में किसी प्रकार से भी निमित्त नहीं होना—इसी भावना

१—समवायांग—सू० १५७:२५; कल्पसूत्र—सू० १६४; उत्तराध्ययन—अ० २२:६-२७; कल्पसूत्र—सू० १६४

२—उत्तराध्ययन—अ० २२:२७

से उन्होंने विवाह करना अस्वीकार कर दिया और बारानियों के लिए यह पदार्थ-पाठ उपस्थित किया कि वैवाहिक आदि प्रसंगों पर भोजन के लिए पशुओं का बलिदान महान् दुष्कर्म है और उस प्रथा को आत्मा के लिए अश्रेयस्कर समझ उसे समूल विनष्ट कर देना चाहिए।

प्रव्रज्या के समय अर्हत् अरिष्टनेमि ने केवल एक देवदुष्य वस्त्र धारण किया था[1]। दीक्षा के दिन वे दो दिनों के उपवासी थे[2]। प्रव्रज्या के दूसरे दिन उन्होंने पारण किया[3]। यह पहली भिक्षा उन्हें वरदत्त से मिली[4]। उसने बड़े भक्ति-भाव से परमान्न की भिक्षा दी[5]। उसीसे उन्होंने पारण किया।

५ : केवलज्ञान-प्राप्ति

प्रव्रज्या के बाद ५४ रात्रि-दिवस वे छद्मस्थ-पर्याय में रहे। इस काल में वे निरन्तर व्युत्सर्गकाय और त्यक्तदेह हो ध्यानावस्थित रहे। ५५वे दिन वर्षा-ऋतु के तीसरे मास— आश्विन महीने के कृष्ण पक्ष की अमावस्या के दिन उज्झित नामक शैल-शिखर पर चित्रा नक्षत्र के योग में उन्हें अनन्त, अनुत्तर, निर्व्याघात, निरावरण, प्रतिपूर्ण, श्रेष्ठ केवल-ज्ञान-दर्शन प्राप्त हुआ।

१—समवायांग—सू० १५७ : २३; कल्पसूत्र—सू० १६४
२—समवायांग—सू० १५७ : २६; कल्पसूत्र—सू० १६४
३—समवायांग—सू० १५७ : ३०
४—समवायांग—सू० १५७ : २८
५—समवायांग—सू० १५७ : ३१

केवल-ज्ञान-दर्शन प्राप्त होने के बाद अरिष्टनेमि अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हुए और वे देव-मानव-असुर सहित सारे लोक के पर्याय को जानने-देखने लगे। सर्वलोक के सर्व जीवों की गति, आगति, स्थिति, च्यवन, उपपात, तर्क, मन, मानसिक भाव, भुक्त, कृत, परिसेवित, प्रगट-अप्रगट कर्म इन सब को वे जानने-देखने लगे। अब उनके लिए कुछ रहस्य नही रहा। वे मन, वचन, काया के योगों में वर्त्तमान सर्व जीवों के सर्व भावों को जानने वाले हो, विहार करने लगे[1]।

भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति सूर्योदय की बेला में हुई[2]। उनका चैत्य वृक्ष बेतस कहा गया है (अर्थात् बेतस् की छाया में उन्हें केवल-ज्ञान-दर्शन प्राप्त हुआ[3]।) उनका पहला शिष्य वरदत्त था[4] और पहली शिष्या आर्या यक्षिणी[5]।

१–कल्पसूत्र–सू० १६५
२–समवायांग–सू० २३ : २; आवश्यक निर्युक्ति गाथा २७५; कल्पसूत्र के अनुसार केवल-ज्ञान प्राप्त करने का समय अमावस्या के दिन का पश्चिम भाग था (सूत्र १६५–पन्नरसी पक्खेणं दिवसस्स पच्छिमे भागे)
३–समवायांग–सू० १५७ : ३५ वेडसरुक्खे। कल्पसूत्र के अनुसार उन्हें बड़ पादप के नीचे (वडपायवस्स अहे) केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ था (सू० १६५)
४–समवायांग–सूत्र १५७ : ४१
५–समवायांग–सूत्र १५७ : ४४

६ : जीवन-प्रसंग

(१) देवकी की शंका का समाधान[1]

एकबार अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी के सहस्राम्र वन में पधारे। उस समय उनके साथ उनके अन्तेवासी छः अनगार थे, जो सहोदर भाई थे। वे रूप में सदृश तथा समान वय के लगते थे। उनके शरीर की त्वचा भी एक सरीखी थी। उनके वर्ण नीलोत्पल, भैंस के सींग, गुली के रंग या अलसी के पुष्प की तरह कृष्ण थे। सब के वक्षस्थल पर श्रीवत्स का लक्षण था। कानों में स्वाभाविक कुण्डल थे। सौन्दर्य में वे नल-कूबर की तरह थे। जिस दिन उन्होंने मुण्डित हो घरवास छोड़ अनगारिता ग्रहण की थी, उसी दिन उन्होंने अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर, यावज्जीवन के लिए निरन्तर षष्ठ-षष्ठ तप-कर्म तथा संयम रूपी तप से, आत्मा को भावित करते हुए रहने की आज्ञा माँगी। भगवान् अरिष्टनेमि ने यथासुख करने की आज्ञा दी। अरिष्टनेमि की आज्ञा पा छओं अनगार षष्ठ-षष्ठ तप द्वारा आत्मा को भावित करते हुए रहने लगे। एक दिन छट्ठ खमण के पारण के दिन भगवान् की आज्ञा ले तीन संघाटक में विभक्त हो वे भिक्षा-पर्यटन के लिए द्वारवती नगरी में गये। उनमें से एक संघाटक द्वारवती नगरी में उच्च-नीच-मध्यम कुलों में सामुदायिक भिक्षाटन करता-करता वसुदेव की रानी देवकी

१—अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : ८ पृ० ८-१२

घर मे प्रविष्ठ हुआ। मुनियों को देख देवकी बहुत ही आनन्दित हुई और आसन से उठ, सात-आठ पाँव आगे जा तीन बार आदक्षिणा-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया। फिर भोजन-गृह (रसोईघर) में आकर सिंह केसरिया मोदकों का थाल भर उनसे अनगारों को प्रतिलाभित किया। भिक्षा के बाद अनगार विसर्जित हुए। तदन्तर इसी तरह दूसरा संघाटक देवकी के घर आया। इन अनगारों को भी उसने पूर्ववत् आदर-सत्कार कर मोदक दिये। इसके बाद तीसरा संघाटक आया। देवकी ने उन्हें भी पूर्ववत् आदर-सत्कार कर मोदको से प्रतिलाभित किया। बाद में बोली —"हे देवानुप्रिय! क्या कृष्ण वासुदेव की नौ योजन विस्तृत यावत् प्रत्यक्ष देवलोक के समान इस द्वारवती नगरी मे उच्च-नीच-मध्यम कुलों मे अटन करते हुए भी निर्ग्रन्थों को भात-पानी नही मिलता कि जिससे एक ही कुल मे भात-पानी के लिए बार-बार अनुप्रविष्ट होते हैं?" अनगार बोले—"देवानुप्रिय! ऐसा नही है कि इस द्वारवती नगरी में भिक्षाचर्या करते हुए निर्ग्रन्थ को भात-पानी नही मिलता और न ऐसा ही है कि एक ही कुल में दूसरी बार, तीसरी बार भात-पानी के लिए अनगार प्रवेश करते हैं। हमलोग भद्दिलपुर नगर के नाग गाथापति के पुत्र और सुलसा भार्या के आत्मज छः सहोदर भाई हैं। हमलोग रूप, रंग और आयु में एक सदृश हैं। हमलोगों ने अरिहन्त अरिष्टनेमि से धर्म सुन, ससार से उद्विग्न हो, जन्म-मरण के भय से भीत हो, घर-बार छोड़ प्रव्रज्या ग्रहण की है। जिस दिन हमलोगों ने दीक्षा ग्रहण

की उसी दिन से षष्ठ-षष्ठ तप से आत्मा को भावित करते हुए रह रहे हैं। आज पारण के दिन दो-दो का संघाटक कर हमलोग तीन संघाटकों में भिक्षाचर्या कर रहे हैं। जो पहले आये वे हमलोग नहीं हैं। हमलोग अन्य हैं।" इस तरह कह जिस दिशा से वे आये थे उसी दिशा को चले गये।

इसके बाद देवकी देवी के मन में विचार उत्पन्न हुआ—"मुझे पोलासपुर नगर में अतिमुक्तक नामक कुमार श्रमण ने बाल्यावस्था में कहा था—'तुम एक सरीखे और नल-कूबर के समान सुन्दर आठ पुत्रों को जन्म दोगी। इस भारतवर्ष में कोई दूसरी माता वैसे पुत्रों को प्रसव करनेवाली नहीं होगी।' यह प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है कि भारतवर्ष में दूसरी माता भी है, जिसने वैसे पुत्रों को जन्म दिया हो। मुनि का कथन मिथ्या कैसे हुआ? जाऊँ अरिहन्त अरिष्टनेमि से पूछूँ।" यह विचार कर धर्मयान पर चढ़ वह भगवान् के दर्शन के लिए गयी और वहाँ पहुँच उनकी पर्युपासना करने लगी।

अर्हत् अरिष्टनेमि ने, देवकी को देखते ही, सम्बोधित कर कहा "तुम्हारे मन में अमुक-अमुक भाव उठने से तुम शीघ्र दर्शन करने आयी हो[1]। क्या यह बात ठीक है?"

१—भगवान ने उसके कहने के पहले ही पूर्व वर्णित उसके मन की बात उसे बता दी।

देवकी ने कहा—"आप कहते हैं वह ठीक है। मैं वास्तव में यही पूछने आई हूँ कि अतिमुक्तक की बात क्या मिथ्या चली गयी ?"

अर्हंत् अरिष्टनेमि बोले : "हे देवानुप्रिये ! भद्दिलपुर नामक नगर है। वहाँ नाग नामक गाथापति निवास करता है। उसके मुलसा नामक भार्या है। बाल्यावस्था में एक निमित्तभाषी ने कहा था कि सुलसा दारिका निन्दू–मृत पुत्रों को जन्म देनेवाली होगी। मुलसा बाल्यावस्था से ही हरिणे गमेषी देव की भक्त थी। उसने उसकी प्रतिमा करवाई। प्रातःकाल स्नान, कौतुक, मंगल, बलिकर्म और प्रायश्चित्त कर, भीगी साड़ी पहने ही, उसकी महापुष्पों मे पूजा कर, घुटनों के बल उसे प्रणाम कर वह अहार-विहार आदि करती।

"उमकी भक्ति, बहुमान और सुश्रूषा से हरिणेगमेषी देव प्रमन्न था। देव, सुलसा की अनुकम्पा से, सुलसा गाथापत्नी और तुझे एक ही काल में ऋतुवती करने लगा। तुम दोनों एक ही समय में गर्भवती होतीं, एक ही समय में गर्भ वहन करतीं और एक ही समय पुत्र को जन्म देतीं। सुलसा गाथापत्नी के मृत पुत्र को करतल-हथेली में उठा हरणेगमेषी देव उसे तुम्हारे पास संहरण कर दिया करता—रख दिया करता और तुम जिस सुकुमार बालक को प्रसव किया करती उसे वह तुम्हारे पास से हटा सुलसा के पास रखा करता था। इस तरह हे देवकी ! ये पुत्र वास्तव में तेरे ही हैं न कि सुलसा गाथापत्नी के।"

यह बात सुनकर देवकी बड़ी ही आनन्दित हुई। वह अर्हंत्

अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर जहाँ छः अनगार थे वहाँ आयी और उन्हें वन्दन-नमस्कार किया। उसके स्तन से दूध की धारा बहने लगी। आनन्दाश्रु से उसके नेत्र भींग गये, कंचुकी ढीली हो गयी, बलय टूट गये। मेघ की जलधारा से आहत कदम्ब के पुष्प की तरह उसके शरीर के रोम विकसित हो गये। देवकी छः अनगारों को अनिमेष-दृष्टि से अनेक समय तक देखती रही। फिर उन्हें वन्दन-नमस्कार कर, अर्हत् अरिष्टनमि के पास आ, उन्हें पुनः वन्दन-नमस्कार किया और घर लौट आई।

(२) गजसुकमाल की प्रव्रज्या[1]

द्वारवती नामक नगरी में सोमिल नामक ब्राह्मण बसता था। वह चारों वेदों में निष्णात और अत्यन्त निष्ठावान था। सोमश्री नामकी ब्राह्मणी उसकी भार्या थी। उस सोमिल ब्राह्मण को सोमश्री ब्राह्मणी से उत्पन्न सोमा नामक पुत्री थी। वह रूप-लावण्य में अत्यन्त उत्कृष्ट तथा मृगांगी थी। एक बार दासियों के साथ वह घर से बाहर राजमार्ग पर सोने के गेंद से क्रीड़ा कर रही थी।

इस समय अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी पधारे। कृष्ण विभूपित हो, अपने छोटे भाई कुमार गजसुकमाल[2] को साथ ले श्रेष्ठ

१—अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : ८ पृ० १५-२२

२—यह कृष्ण के छोटे भाई थे। इनके जन्म की कथा बड़ी ही रोचक है। अर्हत् अरिष्टनेमि से अपने छः आत्मज पुत्रों की बात जान देवकी अपने घर पहुँच, निजी वासगृह में आ, अपनी शैय्या पर

हाथी पर आरूढ़ हो, अर्हत् अरिष्टनेमि के पाद-वन्दन के लिए निकले। उस समय उन्होंने सोमा बालिका को देखा और उसके रूप-लावण्य पर विस्मित हुए। उन्होंने कौटुम्बिक पुरुष भेज, सोमिल ब्राह्मण से सोमा की याचना की तथा उसे ग्रहण करवा कन्याओं के अन्तःपुर में रखवाया जिससे कि वह कुमार गजसुकमाल की भार्या हो।

बैठ विचार करने लगी—"मैंने नल-कूबर के समान सात पुत्रों को जन्म दिया पर एक का भी बाल-भाव नहीं देखा? यह कृष्ण-वासुदेव भी छः-छः मास से मेरे पास पाद-वन्दन के लिए आता है। मैं कितनी अभागिन हूँ!"

इसी समय कृष्ण-वासुदेव विभूषित हो देवकी देवी के पाद-वन्दन के लिए आये। पाद-ग्रहण के बाद वे देवकी से बोले—"हे माता अन्य समय तो मुझे देख तुम आनन्दित होती थीं! पर आज क्यों तुम उदास, सोच करती-सी दिखायी दे रही हो?"

देवकी ने अपने मन की बात कही। माता की चिन्ता को दूर करने के लिए कृष्ण ने पौषधशाला में जा अष्टभक्त तप कर हरिणेगमेषी देव की आराधना की। देव ने प्रसन्न हो कृष्ण वासुदेव से कहा:—"हे देवानुप्रिय! देवलोक से च्यवकर एक जीव तुम्हारा सहोदर भाई होगा। बाल्यावस्था को पार कर युवा होने पर वह अर्हत् अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या ग्रहण करेगा।"

काल पाकर देवकी देवी गर्भवती हुई। उसने स्वप्न में सिंह देखा। नौ मास पूरे होने पर उसके सरस पारिजातक और तरुण दिवाकर की तरह प्रभाकर पुत्र उत्पन्न हुआ। वह सबकी आँखों को प्रिय, सुकुमार और बड़ा सुरूप था। हाथी के तलवे की तरह वह रक्त वर्ण था। इसीसे उसका नाम गज सुकमाल रखा गया। अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : ८ पृ० १२-१३।

कृष्ण सहस्राम्र-वन उद्यान में पहुँच अर्हत् अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर उनकी पर्युपासना करने लगे। अर्हत् अरिष्टनेमि ने कृष्ण, वासुदेव और गजसुकमाल से धर्म-कथा कही। कृष्ण वासुदेव घर लौटे। धर्मोपदेश से प्रभावित हो गजसुकमाल घर-त्याग अनगार हुए। गजसुकमाल ने जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन पूर्वापराह्ण काल अर्हत् अरिष्टनेमि के पास आ, वन्दन-नमस्कार कर, महाकाल नामक श्मशान में एक रात्रि की महा प्रतिमा करने की अनुमति माँगी। भगवान ने यथासुख करने की आज्ञा दी। आज्ञा पा गजसुकमाल श्मशान भूमि में आये। स्थंडिल और उच्चार-प्रश्रवण के लिए—मलमूत्र विसर्जन के लिए भूमि की पड़िलेहना—प्रतिलेखन और काया को कुछ झुका, भुजाओ को पसार, नेत्रों को निर्निमेष रख, दोनों पैर साथ इकट्ठे कर, खडे हो, एक रात्रि की महा-प्रतिमा ग्रहण की।

सोमिल ब्राह्मण समिध के लिए द्वारवती नगरी से बाहर आया हुआ था। समिध, दाभ, कुश, पत्ते आदि ग्रहण कर वह महाकाल श्मशान के निकट से निकला। सन्ध्या की वेला थी। लोगों का आवागमन बंद हो चुका था। ऐसे समय उसने अनगार गजसुकमाल को देखा। देखते ही उसका बैर-भाव जाग उठा। वह क्रोधित हो बोल उठा—"यही गजसुकमाल कुमार है जो मत्यु का प्रार्थी और लज्जारहित है! जिसने बिना दोष मेरी कालप्राप्त-युवा सुता सोमा को त्याग मुण्ड हो प्रव्रज्या ग्रहण की है। मेरे लिए अब बैर चुकाने का मौका है।" यह विचार कर उसने सर्व

दिशाओं की ओर दृष्टि-निक्षेप किया। फिर सरस-गीली मिट्टी ले गजसुकमाल के पास आ उसके माथे पर मिट्टी की पाल बाँधी। फिर प्रज्ज्वलित चिता से विकसित किंशुक पुष्प के समान लाल-लाल खैर के अंगारों को टोकरे में रख कर, गज सुकमाल के माथे पर धर दिया और फिर डरता हुआ, शीघ्र ही वहाँ से निकल जिस दिशा से आया था, उसी दिशा को चला गया। गजसुकमाल के शरीर में अत्यन्त असह्य वेदना उत्पन्न हुई। पर उसने सोमिल ब्राह्मण के प्रति अपने मन में जरा भी द्वेष-भाव नही आने दिया और उस वेदना को बडे समभाव से सहने लगा। इस तरह शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय से आवरणीय कर्मों के क्षय द्वारा वे कर्म-रज को दूर कर अपूर्व करणभाव में प्रविष्ट हुए और उन्हें अनन्त, अनुत्तर, श्रेष्ठ केवल-ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ। फिर वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए।

दूसरे दिन, प्रभात के समय, सूर्योदय होने पर कृष्ण वासुदेव सजधज, कर हाथी पर आरूढ़ हो, अर्हत् अरिष्टनेमि के वन्दन के लिए निकले। सहस्राम्र वन में आ उन्होंने अर्हत् अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार किया। अनगार गजसुकमाल को न देख उन्होंने पूछा—"भगवन्! मेरा सहोदर छोटा भाई गजसुकमाल अनगार कहाँ है? मै उन्हें वन्दन-नमस्कार करना चाहता हूँ।" भगवान् बोले—"हे कृष्ण! गज सुकमाल अनगार ने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया है।" कृष्ण वासुदेव ने पूछा—"कैसे भगवन्?" अर्हत् अरिष्टनेमि ने कृष्ण वासुदेव से सारी घटना कही। कृष्ण

वासुदेव ने पूछा—"अप्रार्थित (मृत्यु) की प्रार्थना करनेवाला लज्जारहित वह कौन पुरुष है जिसने मेरे सहोदर भाई गजसुकमाल अनगार को अकाल ही में जीवन से रहित कर दिया?" अर्हत् अरिष्टनेमि बोले—"हे कृष्ण! तुम उस पुरुष के प्रति द्वेष मत करो। उस पुरुष ने निश्चय ही गजसुकमाल अनगार को सहारा दिया है।" कृष्ण ने पूछा—"सो कैसे?"

भगवान् अर्हत् अरिष्टनेमि बोले—"हे कृष्ण! तुम मेरे दर्शन के लिए आ रहे थे तब रास्ते में तुमने क्या एक पुरुष को देखा जो वृद्ध, जरा-जर्जरित देहधारी, आतुर, बुभुक्षित, तृष्णा से प्रपीड़ित और श्रमित था। वह एक अत्यन्त बड़े ईटों की ढेर से एक-एक ईट को ग्रहण कर, बाहर रास्ते से, अन्दर घर में रखता था। उसे देख तुमने अनुकम्पा से हाथी पर बैठे-बैठे ही ईट ग्रहण कर बाहर रास्ते से उसके घर के अन्दर रखी। तुम्हें ऐसा करते देख शत-शत पुरुषों ने एक-एक ईट उठा सारी ईट-राशि को उसके घर में रख दिया। हे कृष्ण! क्या यह बात ठीक है?"

कृष्ण बोले—"यथार्थ है भगवन्!"

भगवन् बोले—"हे कृष्ण! जिस तरह एक ईट उठाकर तुमने सारी ईंटें उठाने में वृद्ध को सहायता दी उसी तरह उस पुरुष ने अनेक सहस्रो भवो के कर्म उदीर्ण करने में लगे हुए गजसुकमाल अनगार को बहु कर्म-निर्जरा में सहायता दी।"

कृष्ण वासुदेव ने पूछा—"हे भदन्त! मै उस पुरुष को कैसे जान सकता हूँ?"

भगवान बोले—"हे कृष्ण ! तुम्हें द्वारवती नगरी में प्रवेश करने देख वह जहाँ खडा होगा वही स्थिति-भेद से मत्यु को प्राप्त होगा, और उसी समय तुम जान जाओगे कि वह पुरुष कौन है ?"

कृष्ण वासुदेव अर्हन् अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर हस्ती पर आरूढ हो जिधर द्वारवती नगरी थी, जहाँ उनका अपना घर था, उस ओर जाने लगे।

इधर सोमिल ब्राह्मण के मन मे विचार आया—"कृष्ण वासुदेव अर्हत् अरिष्टनेमि के पाद-वन्दन के लिए गये है। अरिहन्त यह बात जानते है, अरिहन्त ने यह बात सुनी है, अरिहन्त इस बात को कृष्ण वासुदेव से कहेंगे ही। मैं नही जानता मुझे कृष्ण वासुदेव किस कुमौत मे मारेगे।" यह विचार कर भयभीत हो वह अपने घर से निकल पडा और कृष्ण-वासुदेव के द्वारवती नगरी में प्रवेश करते समय सम्मुख दिशा में उनके समक्ष आ निकला। कृष्ण-वासुदेव को सहसा सामने देख भयभीत हो वही स्थिति-भेदकर मत्यु को प्राप्त हो वह धराशायी हो गया।

कृष्ण वासुदेव सोमिल ब्राह्मण को देख बोले—"यह सोमिल ब्राह्मण अप्रार्थित की प्रार्थना करनेवाला और लज्जारहित है। इसने मेरे कनिष्ट सहोदर भाई गजसुकमाल अनगार को अकाल में ही जीवन-रहित कर दिया।" उसके बाद सोमिल ब्राह्मण के शव को चाण्डालों द्वारा बाहर निकलवा कर भूमि को जल से प्रक्षालित करवाया और फिर अपने घर गये।

(३) निषधकुमार के पूर्व-भवों का वर्णन[1]

निषध कुमार द्वारवती नगरी के बलदेव राजा का पुत्र था। उसकी माता का नाम रेवती देवी था। वह बहत्तर कलाओं में प्रवीण था। उसकी पच्चास पत्नियाँ थी। वह पाँचों इन्द्रियों के सुखो का अनुभव करता हुआ अपने ऊपरी महल मे योगोपयोगो को लूटता हुआ सुखपूर्वक रहता था।

एकबार अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी मे पधारे। उनके आने की खबर पाकर, नगरी की जनता एव कृष्ण वासुदेव अपनी ऋद्धि के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गये। निषध कुमार ने मनुष्यों के महान् कोलाहल को सुना। पूछने पर उसे ज्ञात हुआ कि भगवान् अरिष्टनेमि पधारे हुए है। वह भी बडे ठाट के साथ दर्शन के लिए गया और भगवान् की वाणी को सुना। आदक्षिण-प्रदक्षिण पूर्वक, वन्दन-नमस्कार कर बोला—"हे भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। इसके बाद उसने श्रावक धर्म को स्वीकार किया और घर लौट आया।

उस समय अर्हत् अरिष्टनेमि के अन्तेवासी उदार, प्रधान, ओजस्वी वरदत्त अनगार धर्म-ध्यान करते हुए एकान्त मे बैठे थे। भगवान् के समीप निषध कुमार को देख उन्हे जिज्ञासा और कौतुहल उत्पन्न हुआ और उन्होंने भगवान् से पूछा—"हे भगवन्! वह निषध कुमार इष्ट है, इष्ट रूप है, कान्त है, कान्त रूप है, इसी तरह

१—निरयावलिका—वर्ग ५ : १

प्रिय है, मनोज्ञ है, मनोरम है, सोम है, सोमरूप है, प्रिय दर्शन है, सुरूप है। हे भदन्त! इस निषध कुमार को इस प्रकार की मनुष्य सम्बन्धी ऋद्धि कैसे मिली, कैसे प्राप्त हुई, और कैसे यह ऋद्धि इसके भोग में आयी?"

अर्हन् अरिष्टनेमि बोले : "हे वरदत्त! उस काल में जम्बुद्वीप के भरत क्षेत्र में रोहितक नामक नगर था जो कि धन-धान्यादि वैभवों से समृद्ध था। महाबल नगर का राजा था। उसकी रानी का नाम पद्मावती था। उसका वीरंगत नामक पुत्र था, जिसका विवाह बत्तीस राजकन्याओं के साथ किया गया था। उसके महल में सदा वाद्ययंत्रादि बजते रहते थे। गायक उसके गुणों का गान करते थे। वह वीरंगत वर्षा आदि छः ऋतु सम्बन्धी इष्ट शब्दरूपादि विषयों को भोगता हुआ, विचरण करता था।

उस समय जातिमत तथा बहुश्रुत और बहु शिष्य-परिवार-युक्त सिद्धार्थ नामक आचार्य रोहितक नगर के मेघवर्ण उद्यान के मणिभद्र यक्षायतन में पधारे और उद्यानपाल से आज्ञा लेकर वहाँ ठहरे। परिषद् दर्शन के लिए निकली। वीरंगत कुमार भी बड़े ठाट से आचार्य सिद्धार्थ के दर्शन के लिए गया। आचार्य से धर्म सुन उन्हें विधिपूर्वक वन्दन-नमस्कार कर वीरंगत बोला—"हे देवानुप्रिय! मैं माता-पिता से पूछकर आपके पास प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ"। इतना कह वह घर आया और माता-पिता से पूछ, प्रव्रजित हो, अनगार हो गया तथा इर्या समिति आदि से युक्त हो गुप्त ब्रह्मचारी बना। उसने सामयिकादि ग्यारह

अंगों का अध्ययन किया। अनन्तर बहुत से चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि तपों मे आत्मा को भावित करता हुआ पूरे पैंतालिस वर्षो के श्रामण्य-पर्याय का पालन किया। अन्त में दो माम की संलेखना से आत्मा को मेवित करता हुआ एकमौ बीस भक्तों को अनशन मे छेदित कर, अपने पाप-स्थानकों की आलोचना और प्रतिक्रमण कर, ममाधि प्राप्त हो, काल अवसर में काल प्राप्त हो वह ब्रह्म नामक पाँचवे देवलोक के मनोरम विमान मे देवता होकर उत्पन्न हुआ। वहा उसकी स्थिति दम मागरोपम की थी। देव-सम्बन्धी आयु, भव और स्थिति के क्षय होने पर उस ब्रह्मलोक मे च्यवकर वह इम द्वारवती नगरी में राजा बलदेव की पत्नी रेवती के उदर में पुत्र होकर जन्मा। रेवती देवी ने मिह का स्वप्न देखा। उमके बाद यह निपध कुमार उत्पन्न हुआ। और शब्दादि विपयों का अनुभव करता हुआ महल में रह रहा है। हे वरदत्त! इम प्रकार निपध कुमार ने विशाल मनुष्य-ऋद्धि पायी है।"

वरदत्त ने पूछा—"हे भदन्त! क्या यह निपध कुमार आपके ममीप प्रव्रजित होगा?"

भगवान् ने कहा—"हां, वरदत्त! यह निपध कुमार अनगार बनेगा।"

(४) निषधकुमार की प्रव्रज्या[1]

निपध कुमार श्रमणोपामक हो, जीव अजीवादि तत्त्वों को जान कर विचरने लगा।

१—निरयावलिका—वर्ग ५ : १

एक समय निषध कुमार जहाँ पोषधशाला थी वहाँ आया और दर्भ-आसन बिछा, धर्मध्यान करता हुआ रहने लगा। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे धर्म-जागरण करते हुए उसके मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न हुआ : "वह ग्राम, नगर यावत् सन्निवेश धन्य है जहाँ अर्हन् अरिष्टनेमि भगवान् विचरते हैं। वे राजा, ईश्वर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, सार्थवाह प्रभृति धन्य हैं जो भगवान को वन्दन-नमस्कार करने और उनकी सेवा करते हैं। यदि अर्हन् अरिष्टनेमि भगवान् पूर्वानुपूर्वी विचरते हुए नन्दन वन मे पधारे तो मैं भी भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर उनकी पर्युपासना करूँ।"

भगवान् अरिष्टनेमि निषध कुमार के आध्यात्मिक अन्त करण के विचार जानकर अपने अठारह हजार श्रमणो के साथ नन्दन वन के उद्यान मे पधारे। भगवान् के दर्शनार्थ परिषद् निकली। निषध कुमार भी वहा गया। भगवान् की वाणी सुनकर वह प्रव्रजित हो अनगार हो गया। ईर्या समिति आदि से युक्त हो गुप्त ब्रह्मचारी हुआ। निषध कुमार ने तथारूप स्थविरो के पास सामायिकादि ग्यारह अगो का अध्ययन किया तथा बहुत से चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम आदि विचित्र तपो से आत्मा को भावित करता हुआ, पूरे नौ वर्षो तक श्रामण्य-पर्याय का पालन किया। अन्त मे बयालिस भक्तो का अनशन मे छेदन कर, पाप-स्थानकों की आलोचना और प्रतिक्रमण कर, समाधि प्राप्त हो, क्रम मे काल प्राप्त हुआ।

निषध अनगार को कालगत जानकर वरदत्त अनगार जहाँ अर्हत् अरिष्टनेमि थे वहाँ आये और वन्दन-नमस्कार कर पूछा

"हे भदन्त! आपका अन्तेवासी निषध अनगार प्रकृति का भद्र और विनयी था। वह काल-प्राप्त कर कहाँ गया और कहाँ उत्पन्न हुआ है?"

भगवान् बोले—"हे वरदत्त! प्रकृति से भद्र, विनयी निषध अनगार काल प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान मे देवरूप से उत्पन्न हुआ है। उसने तैंतीस सागरोपम की स्थिति पायी है।"

वरदत्त ने पूछा—"हे भदन्त! वह निषध देव उस देव सम्बन्धी आयु, भव और स्थिति के क्षय के बाद च्यवकर कहाँ जायगा? कहाँ उत्पन्न होगा?"

भगवान् बोले —"हे वरदत्त! निषध देव इसी जम्बुद्वीप मे महाविदेह क्षेत्र के उन्नत नगर मे विशुद्ध पितृवश वाले राजकुल मे पुत्र रूप से उत्पन्न होगा। बाल्यकाल बीतने पर युवावस्था मे, तथारूप स्थविरो के समीप विशुद्ध सम्यकत्व को प्राप्त कर, अगारी से अनगार होगा। ईर्या समिति युक्त गुप्त ब्रह्मचारी होगा। वहा बहुत से चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, मासार्द्ध, मास क्षपण रूप तपो मे आत्मा को भावित करता हुआ बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करेगा। बाद मे मासिक सलेखना से आत्मा को सेवित कर, साठ भक्तो को अनशन से छेदित करेगा और अन्तिम श्वास मे केवल-ज्ञान-दर्शन से लोकालोक को जानेगा, देखेगा और सर्व कार्यो से मुक्त हो, सम्पूर्ण दु खो का अन्त करके अव्याबाध सुख को प्राप्त करेगा।

(५) पांडवों की संलेषणा[1]

पाँचों पाण्डव तथा द्रौपदी ने धर्मघोष नामक स्थविर से धर्म सुन, संसार-भय से उद्विग्न हो, प्रव्रज्या ग्रहण की थी। प्रव्रज्या के बाद द्रौपदी को सुव्रता नामकी आर्या को सौपा गया था। ये धर्मघोष स्थविर और आर्या सुव्रता अर्हत् अरिष्टनेमि के ही शिष्य थे।

एक बार अर्हत् अरिष्टनेमि संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए सौराष्ट्र जनपद में विचर रहे थे। उस समय स्थविर धर्मघोष से आज्ञा प्राप्त कर युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव अनगारों ने उनके दर्शन के लिए सौराष्ट्र जनपद की ओर विहार किया।

युधिष्ठिर प्रमुख पाँचों अनगार निरन्तर मास-मास का तपकर्म करते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए, सुखपूर्वक विहार कर, हस्तिकल्प नगर के सहस्राम्र उद्यान में यथा प्रतिरूप अभिग्रह ग्रहण कर, संयम और तप से अपनी आत्मा को भावित करते हुए, ठहरे।

युधिष्ठिर अनगार को छोड़, शेष चारों अनगार मास खमण के पारण के दिन प्रथम प्रहर में स्वाध्याय कर, दूसरे प्रहर में ध्यान कर, तीसरे प्रहर में गुरु-भ्राता युधिष्ठिर की आज्ञा ले ऊँच, नीच और मध्य कुलों में सामुदायिक रूप से आहार की गवेपणा के लिए निकले। उस समय उन्होंने बहुत से लोगों का यह शब्द सुना—"अर्हत् अरिष्ट-

---

१—ज्ञाताधर्म कथासूत्र अ० १६ : १३५

नेमि ने उज्जयन्त शैल-शिखर पर जलरहित एक मास के अनशन से पांच सौ छत्तीस साधुओं के साथ कालधर्म प्राप्त किया है यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए हैं।"

चारों अनगार सहस्राम्र उद्यान में लौटे। भात-पानी का प्रत्युपेक्षण किया। गमनागमन का प्रतिक्रमण किया। एषणा अनैषणा की आलोचना की और भात-पानी युधिष्ठिर अनगार को दिखलाते हुए बोले :—"देवानुप्रिय! निश्चय ही अर्हत् अरिष्ट-नेमि उज्जयन्त शैल-शिखर पर पांच सौ छत्तीस अनगारों के साथ जलरहित एक मास का अनशन कर निर्वाण प्राप्त यावत् सर्व दुःखो से मुक्त हो गये हैं। अतः देवानुप्रिय! श्रेयस्कर है कि हम पूर्व ग्रहीत भक्त-पान को परठ कर—परिस्थापन कर शत्रुंजय पर्वत पर शनैः शनैः चढ़कर, सलेखना से आत्मा को सुखा-कृश कर मृत्यु की इच्छा नही करते हुए विचरण करें।" इस प्रकार विचार कर, उन्होंने अहार को त्याग विधिपूर्वक विसर्जित कर दिया और शत्रुंजय पर्वत पर चढ़, सलेषणा ग्रहण कर, काल की आकांक्षा नहीं करते हुए रहने लगे।

इसके बाद युधिष्ठिर आदि प्रमुख पाँचों अनगारों ने सामा-यिकादि चौदह पूर्व का अध्ययन कर, बहुत वर्षो तक श्रामण्य-पर्याय का पालन किया और अन्त में दो महीने की संलेषणा से आत्मा को कृशित करते हुए जिस अर्थ के लिए नग्नतत्त्व भाव यावत् संयम को ग्रहण किया था उसी अर्थ की आराधना करते हुए अनन्त यावत् श्रेष्ठ केवल-ज्ञान-दर्शन को प्राप्त किया और सिद्ध हुए ।

७ : विहार और उपकार

अर्हत् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या के बाद राजीमति ने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। अरिष्टनेमि के भाई रथनेमि भी प्रव्रजित हुए थे और दोनों ही केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध हुए। इन दोनों के जीवन में जो घटना घटित हुई वह परिशिष्ट में दी जा रही है।

अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी में अनेक बार पधारे। एक बार जब वे "नन्दन वन" में ठहरे हुए थे, गौतम कुमार नामक युवक ने उनसे दीक्षा ग्रहण की थी। ये राजा अन्धक वृष्णि (जो द्वारवती में बसते थे) की धारिणी रानी से उत्पन्न पुत्र थे। इनकी आठ पत्नियाँ थी। एक-एक ससुराल से आठ-आठ सुवर्णकोटिका दहेज वगैरह इन्हें मिला था। मुनि होने के बाद इन्होंने अरिष्टनेमि अर्हत् के स्थविरों से सामायिकादि ग्यारह अंगों का अध्ययन किया था। इन्होंने अनेक उपवास किये। भगवान् की आज्ञा से इन्होंने बारह भिक्षु-प्रतिमाएँ भी पूरी की। गुणरत्न तप किया और अन्त में भगवान् की आज्ञा से शत्रुञ्जय गिरि पर एक मास की संलेखना कर, बारह वर्ष चरित्र-पर्याय का पालन कर, सिद्ध हुए। अन्धक वृष्णि के धारिणीजात अन्य पुत्रों—समुद्र, सागर, गम्भीर, स्तिमित, अचल, कापिल्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु के प्रव्रज्या लेने का भी उल्लेख मिलता है। उनका साधु-जीवन भी गौतम की तरह ही रहा[1]।

१—अन्तकृतदशा—वर्ग १ अ० १-१०

एक बार जब भगवान् पुन पधारे तब वृष्णि के पुत्र और धारिणी के आत्मज अक्षोभ, सागर, हिमवन्त, अचल, धरण, पूरण और अभिचन्द्र ने प्रव्रज्या ली। इन सब ने भी गुणरत्न नामक तप कर्म किया। सब को सोलह वर्ष की चारित्र-पर्याय आयी। सब एक मास की सलेषना कर शत्रुजय पर्वत पर सिद्ध हुए[1]।

तीसरी बार भगवान् भद्दिलपुर गाव नगर के बाहर उत्तर पूर्व दिशा मे श्रीवन उद्यान मे पधारे। भद्दिलपुर मे उस समय जित-शत्रु नामक राजा था। यहाँ पर अनियम, अनन्तसेन, अजित सेन, अनहितरिपु, देवसेन, और शत्रुसेन ने प्रव्रज्या ली। ये भद्दिलपुर के नाग नामक गाथापति की सुलसा भार्या के पुत्र रूप से प्रसिद्ध थे पर वास्तव मे वासुदेव की पत्नी देवकी के पुत्र थे। इन सब कुमारो की ३२-३२ भार्याएँ थी। सबने सामायिक आदि १४ पूर्वों का अभ्यास किया। प्रत्येक ने बीस वर्ष चारित्र-पर्याय का पालन किया और अन्त मे एक मास की सलेखना कर, शत्रुजय पर्वत पर सिद्धि प्राप्त की। उन्होने जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन से वे षष्ठ-षष्ठ भक्त उपवास मे प्रवृत्त हुए[2]।

फिर एक बार भगवान् द्वारवती नगरी पधारे। उस समय राजा वासुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ली। उसकी पच्चास भर्याएँ थी। उसने भी १४ पूर्वों का अभ्यास किया।

१—अन्तकृतदशा—वर्ग २ : १-८
२—अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : १-६

२० वर्ष चारित्र-पर्याय का पालन किया। अन्त में एक मास की सलेखना कर शत्रुजय पर्वत पर सिद्धि प्राप्त की[1]।

पुनः एक बार पधारे तब सहस्राम्र वन मे ठहरे। यही पर देवकी दर्शन करने आयी और भगवान् ने बतलाया कि अनियस आदि छ अनगार, जिनकी दीक्षा भद्दिलपुर मे हुई थी, और जो नाग गाथापति की सुलसा भार्या के पुत्ररूप से प्रसिद्ध है, वास्तव मे उसीके पुत्र है।

इस घटना के कम-से-कम १८-२० वर्ष बाद फिर भगवान् के द्वारवती नगर मे आने का वर्णन मिलता है। इस बार आप सहस्राम्र उद्यान मे ठहरे थे। गजसुकमाल की दीक्षा और बाद की मारणान्तिक घटना इसी प्रवास मे हुई थी[2]।'

इसके बाद जब वे पुन. द्वारवती नगरी मे पधारे, तब बलदेव राजा और धारिणी देवी के पुत्र सुमुख कुमार ने ५० पत्नियो को छोडकर प्रव्रज्या ली। १४ पूर्वों का अभ्यास किया। बीस वर्ष तक चारित्र-पर्याय का पालन किया। अन्त मे शत्रुजय पर्वत पर सिद्ध हुआ। इसी अवसर पर बदलदेव और धारिणी के पुत्र दुर्मुख और कूप तथा वासुदेव-धारिणी के पुत्र दारुक और अनादृष्टि की दीक्षा हुई[3]। इन सब का वर्णन सुमुख कुमार की तरह ही है।

१—अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : ७-
२—अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : ८
३—अन्तकृतदशा—वर्ग ३ : ६-१३

जब ये अन्य बार पधारे तब वासुदेव और धारिणी के पुत्र जालि कुमार, मयालि, उपजालि, पुरुषसेन, वारिषेण और कृष्ण रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न, कृष्ण और जाम्बुवती के पुत्र साम्ब कुमार, प्रद्युम्न और वैदर्भी के पुत्र अनिरुद्ध तथा समुद्रविजय और शिवा के पुत्र सत्यनेमि और दृढ़नेमि ने दीक्षा ली थी[1]।

जब ये पुनः द्वारवती आये तब सहस्राम्र वन उद्यान में बिराजे। इसी प्रवास में कृष्ण ने द्वारिका नगरी के विनाश का कारण तथा अन्य प्रश्न पूछा था। कृष्ण की रानी पद्मावती की प्रव्रज्या इसी प्रवास में हुई[2]।

इसके बाद नन्दन वन के समोवसरण के अवसर पर कृष्ण की अन्य रानियां गौरी, गांधारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जम्बुवती, सत्यभामा और रुक्मिणी ने प्रव्रज्या ग्रहण की[3]।

बाद के नन्दन वन के अन्य प्रवास के समय साब की पत्नी मूलश्री और मूलदत्ता ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी[4]।

अर्हत् अरिष्टनेमि के एक शिष्य थावच्चापुत्र भी बड़े प्रसिद्ध हुए। वे द्वारवती नगरी की धनाढ्य गाथा पत्नी थावच्चा के पुत्र थे। उन्होंने ३२ पत्नियों का त्याग कर १००० हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ली थी। उनकी प्रव्रज्या रैवतक पर्वत के नन्दन

१—अन्तकृतदशा—वर्ग ४ : १-१०
२—अन्तकृतदशा—वर्ग ५ : १
३—अन्तकृतदशा—वर्ग ५ : २-८
४—वर्ग ५ : ९-१०

वन मे हुई। उस समय अरिष्टनेमि इस वन के सुरप्रिय यक्ष के यक्षायतन में विराजते थे। थावच्चापुत्र ने स्थविरों से सामायिकादि १४ पूर्वो का अभ्यास किया तथा नाना प्रकार के तप किये। अरिष्टनेमि ने थावच्चापुत्र के साथ प्रव्रजित सहस्र पुरुषों को, उन्हे ही शिष्य के रूप में सौप दिया था।

अनगार थावच्चापुत्र ने भगवान् की आज्ञा से अलग जनपद विहार किया। सेलकपुर के राजा सेलक और उनके पाँच सौ मन्त्री श्रावक-धर्म को ग्रहण कर श्रमणोपासक हुए। सौगन्धिका नगरी का नगरश्रेष्ठी सुदर्शन, शुक नामक परिव्राजक का अनुयायी था। वह शौच-मूल-धर्म को मानता था। थावच्चापुत्र ने उसे विनय-मूल धर्म बतलाया। वह भी श्रमणोपासक हुआ। बाद में शुक परिव्राजक सुदर्शन को ले थावच्चापुत्र के पास आया। लम्बी चर्चा हुई। अन्त मे शुक अपने हजार शिष्यों के साथ मुण्डित हो थावच्चापुत्र के पास प्रव्रजित हुआ। शुक भी बडा प्रभावशाली अनगार निकला। अन्त मे थावच्चापुत्र ने पुण्डरिक पर्वत पर श्याम शिलापट्ट पर पादपोपगमन अनशन किया। एक मास की सलेखना की। उन्हे केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन उत्पन्न हुआ और वे सिद्ध हुए[1]। राजा सेलक और उसके पाँच सौ मन्त्रियों ने शुक से दीक्षा ली। सेलक राजर्षि के पतन और उत्थान की कहानी भी बडी रोचक है[2]।

१—ज्ञाताधर्मकथा—अ० ५ : ५८-६० पृ० ६८-७८

२—ज्ञाताधर्मकथा—अ० ५ : ६१-६६ पृ० ७८-८२

८ : गण समुदाय[1]

अर्हत् अरिष्टनेमि के अठारह गण और अठारह गणधर थे। उनके गण समुदाय में वरदत्त आदि १८००० श्रमणों की उत्कृष्ट श्रमण-सम्पदा एवं आर्या याक्षिणी आदि ४०००० आर्याओं की उत्कृष्ट आर्या-सम्पदा थी। उनके नन्द आदि १०००६९ श्रमणोपासक और महासुव्रता आदि ३०००३६ श्रमणोपासिकाएँ थीं।

अर्हंत् अरिष्टनेमि के समुदाय में जिन नहीं पर जिन-समान तथा सर्व अक्षर के संयोगों को अच्छी तरह जाननेवाले यावत् ४१४ पूर्वधारियों की सम्पत्ति थी। इसी प्रकार १५०० अवधिज्ञानी, १५०० केवलज्ञानी, १५०० वैक्रिय लब्धिधारी, १०० विपुलमति ज्ञानधारी, ८०० वादी और १६०० अनुत्तरौपपातिकों की सम्पदा थी। उनके श्रमण-समुदाय से १५०० श्रमण सिद्ध हुए और ३००० श्रमणियाँ सिद्ध हुईं।

९ : परिनिर्वाण

अर्हंत् अरिष्टनेमि ३०० वर्ष पर्यन्त कुमार वास में रहे। ५४ रात्रि-दिवस छद्मस्थ-पर्याय में रहे। कुछ कम सात सौ वर्ष तक केवली की दशा में रहे। कुछ कम पूरे सात सौ वर्ष का श्रमण-पर्याय प्राप्त कर अपनी एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर, वेदनीय

१—कल्पसूत्र—सू० : १६६-१६७; समवायांग—सू० १८-२; वही—सू० ४०-४१; वही—सू० १११-५

कर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म—इन चारों का एकान्त क्षय किया। ग्रीष्म ऋतु के चौथे मास—आषाढ़ महीने की शुक्ला अष्टमी के दिन उज्झित शैल-शिखर पर अन्य पांच सौ छत्तीस अनगारों के साथ निर्जल-मासिक भक्त-तप में, चित्रा नक्षत्र के योग में, रात्रि के पूर्व तथा अपर भाग की सन्धि बेला में—मध्य रात्रि में, निषद्या में—बैठे-बैठे, वे कालगत, यावत् सर्व दु:खों से मुक्त हुए[1]।

उस समय दु:षमा सुषमा नामक अवसर्पिणी कालचक्र का बहुत भाग बीत चुका था। उन्हें काल प्राप्त हुए, ८४९८० से भी अधिक वर्ष बीत चुके हैं[2]।

१—कल्पसूत्र-सू० १६८
२—कल्पसूत्र-सू० १६९

: २ :

वासुदेव कृष्ण

१ : जन्मस्थान और माता-पिता

कृष्ण का जन्म सोरियपुर मे हुआ, ऐसा पता चलता है। उनके पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम देवकी था। वसुदेव सोरियपुर के महर्द्धिक राजा थे[1]।

वसुदेव दस भाइयो मे सबसे छोटे थे। उनके ज्येष्ठतम भाई का नाम समुद्रविजय था। समुद्रविजय यावत् वसुदेव 'दस दशार्ह' नाम से प्रसिद्ध थे[2]।

समुद्रविजय और वसुदेव दोनो पृथक्-पृथक् रूप से सोरियपुर के महर्द्धिक राजा कहे गये है[3]। इससे सिद्ध होता है कि बीच के भाई भी सोरियपुर के राजा कहलाते थे। इससे यह भी मालूम पडता है कि दस दशार्हों की राज्य-पद्धति गणसत्तात्मक थी।

१–(क) उत्तराध्ययन–२२ : १, २; (ख) समवायांग–सू. १५८–स्थानांग–६७२–(ग) अंतगडदसा–वर्ग ३ अ. ८

२–ज्ञाताधर्मकथा–अ.५:५७ पृ. ६८

३–उत्तराध्ययन–२२ : १, ३

कृष्ण का जन्म-नाम केशव होना चाहिए[1]। श्याम वर्ण होने से उन्हें दुलार मे 'कण्हे' (कृष्ण) कहा जाता रहा होगा। आगे जाकर यही नाम प्रसिद्ध हो गया। कृष्ण यादव-क्षत्रिय थे[2]।

२ : वंश-परिचय

आगमों में स्पष्ट उल्लेख नही मिलता पर सम्भवतः कृष्ण के पितामह का नाम अन्धकवृष्णि था[3]। वे अपने वंश में इतने प्रसिद्ध हुए कि उनका कुल ही अन्धकवृष्णि या वृष्णि कहलाने लगा। इसी कारण उनके वंशजों को कई स्थलों पर अन्धकवृष्णि या वृष्णि कहा गया है[4]।

अर्हत् अरिष्टनेमि कृष्ण के चचेरे भाई थे[5]। पाण्डवो की

१–(क) उत्तराध्ययन–२२ : २, ६, २७
(ख) प्रश्न व्याकरण—अधर्म द्वार–४
(ग) ज्ञाताधर्मकथा–अ. १६ : १२७ पृ. ३५

२–ज्ञाताधर्मकथा–अ. १६ : १२७ पृ. ३५

3–The Das'avaikalika SUTRA : A Study (with special reference to chapters I-VI) p. 50

४–(क) उत्तराध्ययन–अ. २२ : ४३;
(ख) दसवैकालिक–अ. २ : ८
(ग) निरयावलिका–वर्ग ५ अ. १
(घ) उत्तराध्ययन–अ. २२ : १३
(ङ) ज्ञाताधर्मकथा–अ. १६ : १२५ पृ. ३३

५–(क) उत्तराध्ययन–अ. २२ : २, ३, ४
(ख) The Das'avaikalika SUTRA : A Study (with special reference to chapters I-VI) p 50

माता कुन्ती देवी कृष्ण की बुआ लगती थीं[१]। कृष्ण के सात सहोदर भाई और सात सौतेले भाइयों के नामोल्लेख मिलते हैं[२]। कृष्ण के सम्बन्धियों में प्रदीप और उम्मुय (उन्मुख) के नाम भी मिलते हैं[३] पर कृष्ण के साथ उनका वास्तविक सम्बन्ध क्या था इसका पता नहीं चलता। आगम में उपलब्ध बृहत् वंशवृक्ष परिशिष्ट में दिया जा रहा है।

कृष्ण की सोलह हजार रानियाँ थीं[४]। इनमें से पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, रुक्मिणी का नामोल्लेख मिलता है[५]। उनके पुत्रों में साम्ब और प्रद्युम्न के नाम प्राप्त हैं[६]। उनके एक पौत्र अनिरुद्ध का भी नामोल्लेख मिलता है[७]।

१—(क) ज्ञाताधर्मकथा—१६ : १२९ पृ. ३९
(ख) ज्ञाताधर्मकथा—१६ : १३२ पृ. ४८

२—(क) अंतगडदसाओ—वर्ग ३ अ. ७: वर्ग ३ अ. १२-१३
वर्ग ४ अ. १-५
(ख) उत्तराध्ययन—अ. २२ : २

३—ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२७ पृ. ३५

४—(क) अंतगडदसाओ—वर्ग १ अ. १
(ख) प्रश्न व्याकरण—अधर्म द्वार—४

५—(क) अंतगडदसाओ—वर्ग ५ अ. १-८
(ख) स्थानांग—६२६

६—अंतगडदसाओ—वर्ग ४ अ. ७; वर्ग ५ अ. ९; वर्ग ४ अ. ६;

७—अंतगडदसाओ—वर्ग ४ अ. ७

३ : निवासस्थान और आधिपत्य

कृष्ण द्वारवती[1] नगरी मे रहते थे[2]। यह नगरी सौराष्ट्र जनपद मे थी[3]। यह पूर्व-पश्चिम लम्बी और उत्तर-दक्षिण चौडी थी[4]।

द्वारवती बारह योजन लम्बी और नव योजन विस्तीर्ण थी। यह धनपति-कुबेर के बुद्धि-कौशल से विनिर्मित मानी जाती थी। इस नगरी मे सोने का प्राकार-परकोटा था और पॉच वर्णो की नाना मणियो से सुसज्जित कपि-शीर्षक—कगूरे थे। यह नगरी बडी ही सुरम्य, अलकापुरी-तुल्य और प्रत्यक्ष देवलोक-सदृश थी। यह प्रासादित, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी। इसके बाहर उत्तर-पूर्व दिशा मे रैवतक नामक पर्वत था। इस पर्वत पर नन्दन वन नामक उद्यान था। उसमे सुरप्रिय नामक यक्षायतन था। उसके चारो ओर एक वनखण्ड था। उसके मध्य मे एक श्रेष्ठ अशोक

१—अंतगडदसाओ—वर्ग १ अ. १ आदि स्थलो मे मूल शब्द 'बारवई' है, जिसका संस्कृत रूप द्वारवती होता है। उत्तराध्ययन (अ. २२ : २२, २७) में इसका नाम 'बारगापुरी'—द्वारकापुरी दिया है।

२—अंतगडदसाओ—वर्ग १ अ. १ पृ ३
ज्ञाताधर्मकथा—अ. ५ : ५७ पृ. ६८

३—ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२२ पृ. २८
ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२२ पृ. २६

४—ज्ञाताधर्मकथा—अ. ५ : ५७ पृ. ६८

वृक्ष था[1] । इस नगरी में सहस्रवन नामक उद्यान भी था[2]।

उस समय भरत क्षेत्र, वैताढ्य पर्वत के द्वारा दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध इन दो भागों में विभक्त था और लवण-समुद्र से परिवेष्ठित था। इसमें हजारों ग्राम, आगर, नगर, खेड़, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन, आश्रम और संवाम थे । नाना प्रकार के धन-धान्यों को उत्पन्न करनेवाली यह रत्नगर्भा भूमि जलाशय, नदी, तालाब, पर्वत, वन, बाग-बगीचे आदि मनोहर वस्तुओं से परिमण्डित थी।

कृष्ण वैताढ्य गिरि से लेकर सागरपर्यन्त दक्षिणार्द्ध भारत और द्वारवती के एकाधिकारी अधिपति थे[3]। वे नरसिंह, नरपति, नरेन्द्र थे। वे देवराज इन्द्र के सदृश थे। वे अभिहत राजलक्ष्मी से सुवेष्ठित थे। उनका कोषागार नाना प्रकार के कनक, रत्न, मणि, मोती, प्रबाल, वैभवादि से परिपूर्ण और ऋद्धि-समृद्धि से संचित था। वे हजारों अश्व, हाथी और रथ के स्वामी थे।

समुद्रविजय प्रमुख दस दशार्ह, बलदेव प्रमुख पाँच महावीर, प्रद्युम्न प्रमुख साढ़े तीन करोड़ कुमार, साम्ब प्रमुख आठ हजार

१–(क) अंतगडदसाओ–वर्ग १ अ. १ पृ. ३
(ख) ज्ञाताधर्मकथा–अ. ५ : ५७ पृ. ६८
(ग) निरयावलिका–वर्ग ५ –.१

२–(क) अंतगडदसाओ–वर्ग ३ : अ. ८ पृ. क, १५, १७
(ख) „ –वर्ग ५ अ. १ पृ. ३१

३–(क) ज्ञाता धर्मकथा–अ. ५ : ५७ पृ. ६८
(ख) प्रश्न व्याकरण–अधर्म द्वार ४

दुर्दान्त शूर, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बलवर्ग—सैन्यदल, वीरसेन प्रमुख इक्कीस हजार वीर, उग्रसेन प्रमुख सोलह हजार राजा, अनंगसेना प्रमुख हजारों गणिकाएँ तथा अन्य अनेक ईश्वर, तलवर, माडम्बिक, कौटुम्बिक, इम्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह उनके आधीन थे[१]।

कृष्ण की सुधर्मा नामक एक सभा थी[२]। इसमें कई तरह की भेरियाँ थी। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार मिलते हैं : सामुदायिन भेरी, सन्नाहिका भेरी, कौमुदी भेरी इत्यादि। स्वयंवर में जाने के समय सामुदायिन भेरी, युद्ध में जाने के समय सन्नाहिका भेरी और दर्शन या दीक्षा के लिए जाने के समय कौमुदी भेरी बजवाने का उल्लेख मिलता है[३]।

जब भी कृष्ण कौटुम्बिक पुरुषों को बुला अपनी सुधर्मा सभा

१–(क) अंतगडदसाओ–वर्ग १ अ. १ पृ. ३
(ख) ज्ञाताधर्मकथा–अ. ५ : ५७ पृ. ६८
(ग) ज्ञाताधर्मकथा–अ. १६ : १२२ पृ. २७-२८
(घ) निरयावलिका–वर्ग ५ अ. १

२–ज्ञाताधर्मकथा–अ. ५ पृ. ६६;
„ अ. १६ : १२२ पृ. २८
„ अ. १६ : १२६ पृ. ४१

३–(१) ज्ञाताधर्मकथा–अ. १६ : १२२ पृ. २८
(२) ज्ञाताधर्मकथा–अ. १६ : १२६ पृ. ४१
(३) ज्ञाताधर्मकथा–अ. ५ : ५८ पृ. ६६
(४) निरयावलिका–वर्ग ५ : १

की कोई भेरी बजवाते, तब दस दशार्ह आदि सब अवसर के योग्य वेशभूषादि से सुसज्जित हो, कृष्ण वासुदेव के समीप आ पहुँचते, और जय विजय के महोद्घोष से उनका बधावा करते[1]।

४ : कृष्ण के समकालीन

कृष्ण अर्हत् अरिष्टनेमि और अर्हत् मुनि सुव्रत के जमाने में हुए थे[2]। वे धातकी खण्डद्वीप के पूर्वार्द्ध भरत की चम्पा नगरी के राजा कपिल वासुदेव के समकालीन थे[3]। हस्तिनापुर के राजा पाण्डु, पाँच पाण्डव, दुर्योधन आदि कौरव, गांगेय, विदुर, द्रोणाचार्य, जयद्रथ, शकुनि, क्लीब और अश्वत्थामा के उपरान्त अंगराज कृष्ण, सेल्लक, नन्दिराज, दमघोष के पुत्र पाँच सौ भाइयोंवाले शक्तिमती के राजा शिशुपाल, हस्तिशीर्ष के राजा दमदन्त, मथुरा नगरी के राजा धर, जरासंघ के पुत्र राजगृह के राजा महदेव, भेमक के पुत्र कौडिन्य के राजा रुक्मि और विराटनगर के राजा कीचक (जो १०० भाई थे) उनके समसामयिक थे[4]।

१—ज्ञाताधर्मकथा—अ. ५ पृ. ६९-७०
ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२२ पृ. २८-२९
ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२९ पृ. ४१
निरयावलिका—वर्ग ५ : १

२—ज्ञाताधर्मकथा—१६ : १३० पृ. ४५

३—ज्ञाताधर्मकथा—१६ : १३० पृ. ४५

४—ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२२ पृ. २९-३०

५ : कृष्ण का व्यक्तित्व[1]

जैन कथानुयोग में 'बलदेव' और 'वासुदेव' अत्यन्त विशिष्ट पुरुष माने जाते हैं[2]। उन्हें परम पुरुष कहा जाता है। कृष्ण की विमाता रोहिणी के पुत्र राम अपने युग के 'बलदेव' थे और कृष्ण अपने युग के 'वासुदेव'[3]। कृष्ण बड़े ही ओजस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी पुरुष थे। उन्हें ओघबली, अतिबली, महाबली, अप्रतिहत और अपराजित कहा गया है। उनके शरीर में इतना बल था कि वे महारत्न वज्र को चुटकी से पीस डालते थे।

वे बड़े सानुक्रोश—दयालु थे। उनमें मत्सर-भाव लेशमात्र नहीं था। वे प्रकृति से ही मृदु, मंजुल और मुकुलमुख थे। उनके पास सब कोई आसानी से पहुँच सकते थे। वे शरणागतवत्सल और शरणयोग्य थे।

१–(क) समवायांग–१५८; स्थानांग–६७२

(ख) प्रश्न व्याकरण–अधर्म द्वार–४

२–समवायांग–१५८, स्थानांग–सू. ६७२

३–(क) अंतगडदसाओ–१ : १ पृ. ३ कण्हेनामं वासुदेवे राया परिवसइ

(ख) अंतगडदसाओ–३ : ८ पृ. ६ कण्हस्स वासुदेवस्स इसीसे बारवईए नयरीए

(ग) उत्तराध्ययन–२२ : १८, १०, २५, ३१

उनका शरीर मान, उन्मान और प्रमाण में पूरा, सुजात और सर्वांग सुन्दर था। वे लक्षण, व्यंजन और सारे गुणों से युक्त तथा दस धनुष्य लम्बे थे। वे देखने में बड़े ही कान्त, सौम्य, सुभग-सुरूप और बड़े ही प्रियदर्शन थे। वे प्रगल्भ, धीर तथा विनयी थे। सुखशील होने पर भी अनलस थे—आलस्य उनके पास फटकता तक नही था।

उनकी वाणी गम्भीर, मधुर और परिपूर्ण थी। उसका निनाद क्रौंच पक्षी के घोष, शरद् ऋतु की मेघध्वनि और दुदुभि की तरह मधुर एवं गम्भीर था। वे सत्यवादी थे।

उनकी चाल मदमत्त श्रेष्ठ गजेन्द्र की तरह ललित थी। वे नील कौशेय-वस्त्र पहना करते थे। उनके मुकुट में श्रेष्ठ, धवल, शुक्ल, विमल कौस्तुभ मणि लगा रहता था। कान में कुण्डल थे। वक्षस्थल पर एकावली हार लटकता रहता। उन्हें श्री वत्स का लाछन था। वे सुगन्धित पुष्पो की माला धारण किया करते।

वे हाथ मे धनुष रखते और दुर्धर धनुर्धर थे। उनके धनुष का टंकार बडा उद्घोषकर होता था। वे शंख, चक्र, गदा, शक्ति और नन्दक धारण करते। वे ऊँची गरुड़ ध्वजा के धारक थे।

वे शत्रुओं के मान को मर्दन करनेवाले, युद्ध में कीर्त्ति प्राप्त करनेवाले, अजित और अजित रथ थे। इसी कारण वे महारथी भी कहलाते थे।

६ : जीवन-प्रसंग

(१) द्रौपदी के स्वयंवर में[1]

द्रौपदी पाँचाल जनपद के कंपिलपुर नामक नगर के राजा द्रुपद की पुत्री थी। उसकी माता का नाम चूलनी था। क्रमशः बाल्यावस्था को पार कर वह युवती हुई। एक दिन उसे स्नान करा, विभूषित कर दासियाँ द्रुपद राजा के पाद-वन्दन के लिए ले गयी। द्रौपदी ने पाद-वन्दन किया। राजा द्रुपद ने उसे अपनी गोद मे बिठा लिया। द्रौपदी के रूप, यौवन और लावण्य मे विस्मित होकर राजा बोला "पुत्री! यदि मैं स्वय किसी राजा या युवराज को तुझे भार्या के रूप मे दूं तो सम्भव है तू सुखी हो अथवा न भी हो। इससे यावज्जीवन मेरे हृदय में सन्ताप रहेगा। अतः हे पुत्री! मैं स्वयंवर की रचना करूँगा। तुझे आज से अपना वर स्वयं चुनने की छूट देता हूँ। जिस राजा या युवराज को तू स्वयं वरेगी वह तेरा पति होगा।"

इसके बाद राजा द्रुपद ने स्वयवर के लिए भिन्न-भिन्न देशों से राजाओं को आमन्त्रित करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने पहला निमन्त्रण कृष्ण वासुदेव और उनके दशार्ह आदि राज-परिवार को बुलाने के लिए भेजा।

राजा द्रुपद से दूत द्वारा स्वयंवर में उपस्थित होने का निमन्त्रण

१—ज्ञाता धर्मकथा—अ. १६ : १२२ : १२६ पृ. २७-३४

पाकर कृष्ण ने कौटुम्बिक पुरुष को बुला सुधर्मा सभा में जा सामुदायिन भेरी बजाने की आज्ञा दी। दूत ने महोद्घोष से भेरी बजायी। भेरी की ध्वनि सुनते ही समुद्रविजय-प्रमुख दश दशार्ह यावत् महासेन -प्रमुख छप्पन हजार बलवर्ग स्नान कर, विभूषित हो तथा यथा वैभव, ऋद्धि और सत्कार के साथ कोई अश्व पर आरूढ़ हो, कोई पादचारी हो जहाँ कृष्ण वासुदेव थे, वहाँ पहुँचे और करतल जोड़, दसों नख को साथ कर, सिर से आवृत्त कर, मस्तक से अँजलि की और जय-विजय घोष से उनका मंगल गाया।

कृष्ण ने कौटुम्बिक पुरुषों को अभिषेक हस्तिरत्न तैयार करने की आज्ञा दी। स्वयं स्नानादि कर विभूषित हुए और उस पर आरूढ हो दस दशार्ह आदि समस्त राज-परिवार के साथ पाँचाल जनपद के कंपिल्यनगर की सीमा पर पहुँचे। स्थान-स्थान से अनेकानेक सहस्र नृप उपस्थित हुए। राजा द्रुपद ने कृष्ण वासुदेव -प्रमुख सब राजाओं का कंपिलपुर के बाहर जा अर्घ्य और पाद्य से सत्कार-सम्मान किया। सब अपने-अपने लिए निर्मित आवास में उतरे। द्रुपद के कौटुम्बिक पुरुषों ने अशनादि से उनकी अभ्यर्थना की।

काम्पिल्य नगर के बाहर गंगा महानदी से न अधिक दूर न अधिक समीप एक बड़ा स्वयंवर-मण्डप रचा गया था। स्वयंवर में रखे हुए आसनों पर राजाओं के नाम अंकित कर दिये गये थे। कृष्ण वासुदेव-प्रमुख सब राजा स्वयंवर के दिन अपने-अपने आसन पर आसीन हुए। राजा द्रुपद ने पुनः उनका स्वागत किया

और फिर कृष्ण वासुदेव के पास खड़े हो उनपर श्वेत चँवर डुलाने लगे। द्रौपदी ने पाँच पाण्डवों के गले में माला डाली और बोली: "मैंने पाँच पाण्डवों का वरण किया है।" कृष्ण वासुदेव प्रमुख सभी राजाओं ने महान् शब्द से उद्घोष किया—"नृपवर! कन्या द्रौपदी ने पाण्डवों को वरण किया सो अच्छा किया।" इसके बाद राजा द्रुपद ने पाँच पाण्डवों के साथ द्रौपदी का पाणिग्रहण कर दिया। राजा पाण्डु के आमन्त्रण पर कृष्ण वासुदेव प्रमुख हजारों राजा हस्तिनापुर पहुँचे और पाँच पाण्डव और द्रौपदी देवी के कल्याण महोत्सव में सम्मिलित हुए।

इस स्थल पर कृष्ण वासुदेव को सब राजाओं में प्रमुख कहा गया है। पहला दूत उन्हीं के पास भेजा गया। राजा द्रुपद उनके समीप खड़े होकर चँवर डुलाने लगे आदि बातें इसी ओर संकेत करती है कि कृष्ण अपने समय के अप्रतिम नरेन्द्र थे।

(२) द्रौपदी का उद्धार[1]

एक दिन पाण्डुराज पाँच पाण्डव, कुन्ती देवी, द्रौपदी देवी तथा अन्तःपुर के अन्य परिवार से संपरिवृत हो सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छुल्ल नारद, जो देखने में तो अति भद्रक और विनीत लगते थे, पर अन्तरतः कलुषहृदयी थे, विद्या के सहारे आकाश में उड़ते हुए, आकाश का उल्लंघन करते हुए सहस्रों ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पत्तन और

१—ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १२७-१२९ पृ. ३४-३५

सम्बोधन द्वारा शोभित और व्याप्त मेदिनी-तल—वसुधा को देखते हुए हस्तिनापुर पहुँचे और द्रुत वेग से पाण्डुराज के भवन मे उतरे।

नारद को आते देख पाण्डु राजा ने पाँच पाण्डव और कुन्ती देवी सहित आसन से उठ, सात-आठ कदम सम्मुख जा, तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया और महापुरुष के योग्य आसन से उन्हे आमन्त्रित किया।

नारद जल के छीटे दे, दर्भ बिछा, आसन डाल, उस पर बैठे और पाण्डु राजा से उसके राज्य यावत् अन्त पुर सम्बन्धी कुशल समाचार पूछा।

पाण्डुराज, कुन्ती देवी और पाँच पाण्डवो के साथ नारद का आदर-सम्मान कर उनकी पर्युपासना करने लगे। केवल द्रौपदी ने नारद को असयत, अविरत, अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा जान, न तो उनका आदर किया, न उनका सम्मान किया, न खड़ी हुई और न उनकी पर्युपासना की।

नारद सोचने लगे—"द्रौपदी अपने रूप-लावण्य के कारण और पाचो पाण्डवो को पति रूप मे पाकर गर्विष्टा हो गयी है और इसी कारण मेरा आदर नही करती। अत इसका अप्रिय करना ही मेरी समझ से श्रेयस्कर होगा।" ऐसा विचार, पाण्डुराज से पूछ, आकाशगामिनी-विद्या का स्मरण कर उत्कृष्ट विद्याधर की गति से आकाश-मार्ग मे चलने लगे और लवण समुद्र के बीचोबीच से पूर्व दिशा की ओर मुख कर आगे बढने लगे।

उस समय धातकी खण्डद्वीप की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र में अमरकंका नाम की राजधानी थी। वहाँ पद्मनाभ नाम का एक राजा था। एक दिन वह अपनी सात सौ देवियों से संपरिवृत हो अन्तःपुर में सिंहासन पर बैठा था। उसी समय नारद उड़ते-उड़ते सीधे उसके राजभवन में आकर उतरे। राजा पद्मनाभ ने उनका आदर-सत्कार किया, अर्घ्य से उनकी पूजा की और उन्हें आसन पर उपामन्त्रित किया। नारद ने कुशल-समाचार पूछा।

राजा पद्मनाभ अपनी रानियों के परिवार के प्रति विस्मयोन्मुख हो नारद से पूछने लगा: "देवानुप्रिय! आप अनेक ग्राम-यावत् घरों में प्रवेश करते हैं। मेरी रानियों का जैसा परिवार है क्या आपने वैसा अन्यत्र भी पहले कहीं देखा है?" नारद पद्मनाभ की बात सुन किंचित् हँसकर बोले: "पद्मनाभ! तू कूपमण्डूक के सदृश है। देवानुप्रिय! जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहाँ द्रुपद राजा की पुत्री, चूलनी देवी की आत्मजा, पाण्डुराज की पुत्रवधू और पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी देवी है। वह रूप-लावण्य में उत्कृष्ट है। तेरा रानी-समूह उसके छेदे हुए पग के अंगूठे के सौवें हिस्से की बराबरी करने के योग्य भी नहीं।"

इसके बाद राजा पद्मनाभ से पूछ, नारद वहाँ से चले गये।

नारद से प्रशंसा सुन राजा पद्मनाभ द्रौपदी के रूप, यौवन, लावण्य में मूर्च्छित, गृद्ध, लुब्ध हो उसकी प्राप्ति के लिए आतुर

हो गया। उसने इष्ट देव का स्मरण किया। देव सुप्त द्रौपदी को राजा पद्मनाभ की अशोक वनिका में उठा लाया। राजा पद्मनाभ द्रौपदी को सोच करते देख बोला: "देवानुप्रिय! तुम मन के संकल्पों से आहत न बनो। किसी प्रकार की चिन्ता न कर मेरे साथ विपुल काम-भोगों को भोगती हुई रहो।" द्रौपदी बोली: "देवानुप्रिय! जम्बुद्वीप के भारतवर्ष की द्वारवती नगरी में मेरे पति के भाई कृष्ण वासुदेव रहते हैं। वे यदि छः मास के अन्दर मेरे उद्धार के लिए नहीं आयेंगे तो मैं आप देवानुप्रिय जैसा कहेंगे वैसा ही करूँगी। आपकी आज्ञा, उपाय, वचन और निर्देश के अनुसार चलूंगी।"

राजा पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात स्वीकार कर ली और उसे कन्याओं के अन्तःपुर में रखा। द्रौपदी निरन्तर षष्ठ-षष्ठ आयंबिल तपकर्म से अपनी आत्मा को भावित करती हुई रहने लगी।

पाण्डुराजा जब किसी तरह भी द्रौपदी का पता नहीं लगा सके तब उन्होंने कुन्ती देवी को बुलाया और बोले : "देवानुप्रिय! तुम शीघ्र ही द्वारवती नगरी जाओ और कृष्ण वासुदेव से स्वयं द्रौपदी की मार्गणा-गवेषणा करने का निवेदन करो।"

कुन्ती देवी श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ हुई और जहाँ सौराष्ट्र जनपद था, जहाँ द्वारवती नगरी थी, जहाँ श्रेष्ठ उद्यान था वहाँ पहुँचीं। वहाँ हाथी से नीचे उतर कर कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर बोली : "देवानुप्रियो! तुम द्वारवती नगरी में प्रवेश करो और कृष्ण वासुदेव से हाथ जोड़कर कहो—"निश्चयतः स्वामी!

आपके पिता की बहन-बुआ कुन्ती देवी हस्तिनापुर से शीघ्रता से आयी है और आपका दर्शन करना चाहती हैं।"

कौटुम्बिक पुरुषों से कुन्ती देवी के आगमन की बात सुन कृष्ण वासुदेव श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ हुए और हाथी-घोड़ों की सेना के साथ द्वारवती नगरी के बीचोबीच से होते हुए जहाँ कुन्ती देवी थी वहाँ आये और हाथी से उतर कर चरण-ग्रहण किया। फिर कुन्ती देवी के साथ हाथी पर आरूढ़ हो अपने राजभवन पहुँचे।

भोजन हो जाने के पश्चात् कृष्ण ने कुन्ती देवी से उनके आने का प्रयोजन पूछा। कुन्ती बोली: "पुत्र! युधिष्ठिर द्रौपदी देवी के साथ आकाशतल मे सुखपूर्वक सो रहा था। जागने पर द्रौपदी दिखायी नही दी। न जाने किस देव, दानव, किंपुरुष, किन्नर या गन्धर्व ने उसका अपहरण किया है। पुत्र! मै चाहती हूँ कि तुम स्वयं द्रौपदी देवी की मार्गणा-गवेषणा करो, अन्यथा उसका पता लगना सम्भव नही।" यह सुन कृष्ण बोले "पितृभगिनी! मै द्रौपदी देवी का पता लगाऊँगा। उसकी श्रुति, क्षति, प्रवृत्ति, का पता मिलते ही पाताल से, भवन से, अर्द्ध-भारत के किसी भी स्थल से उसे स्वयं अपने हाथों ले आऊँगा।" इस प्रकार आश्वासन दे, सत्कार-सम्मान कर कृष्ण ने कुन्ती देवी को विदा किया।

इसके बाद कृष्ण ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर आदेश दिया! "देवानुप्रियो! तुम शीघ्र ही द्वारवती नगरी के छोटे-बड़े सब मार्गों में उच्च स्वर से उद्घोष करो—"राजा युधिष्ठिर हस्तिना-

पुर के राजभवन में आकाशतल सुखपूर्वक सो रहा था। उसके पास से किसीने सुप्त द्रौपदी का अपहरण किया है। जो द्रौपदी की श्रुति, क्षति, प्रवृत्ति का पता देगा उसे कृष्ण वासुदेव विपुल अर्थदान देंगे।"

कौटुम्बिक पुरुषों ने ऐसा ही किया पर द्रौपदी का पता न चला।

एक दिन कृष्ण वासुदेव अपनी रानियों के साथ बैठे हुए थे। इतने में कच्छुल्ल नारद वहाँ आये। कृष्ण ने उनसे पूछा: "आप अनेक ग्राम, नगर यावत् घरो मे जाते है। क्या आपने कहीं द्रौपदी की भी बात सुनी?" नारद बोले: "देवानुप्रिय! एक बार मै धातकी खण्ड की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र में अमरकंका राजधानी में गया था। वहाँ राजा पद्मनाभ के राजभवन में, पूर्ववत्–पूर्व जैसी, द्रौपदी को मैंने देखा।" कृष्ण बोले: "लगता है यह आप देवानुप्रिय का ही कर्म है।" कृष्ण के ऐसा कहने पर कच्छुल्ल नारद आकाशगामिनी विद्या के सहारे उड़कर, जिस दिशा से आये थे उसी दिशा को चल दिये।

कृष्ण ने दूत को बुलाकर कहा: "तुम हस्तिनापुर जाकर राजा पाण्डु से निवेदन करो कि द्रौपदी का पता लग गया है। पाँचों पाण्डव चतुरंगिनी सेना से संपरिवृत हो पूर्व दिशा के वैतालिक समुद्र के तीर पर पहुँचें और वहाँ मेरी बाट जोहते रहें।"

इसके बाद कृष्ण ने सन्नाहिका भेरी बजवायी। उसका शब्द सुनते ही समुद्रविजय प्रमुख दश दशार्ह यावत् छप्पन हजार बलवान योद्धागण सन्नद्धबद्ध, हो अपने-अपने आयुधों को ले, कोई

हाथी पर, तो कोई घोड़े पर सवार हो, सुभटों सहित जहाँ कृष्ण वासुदेव की सुधर्मा सभा थी, जहाँ कृष्ण थे, वहाँ आये और जय-विजय शब्दों से उनका बधावा गाया।

अब कृष्ण वासुदेव श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ हुए। कोरंट फूलों की माला का छत्र धारण किया। उनपर श्वेत चँवर डुलाया जाने लग। इस तरह घोड़े, हाथी, भट, सुभटों के परिवार मे सुपरिवृत हो कृष्ण द्वारवती नगरी के बीचोबीच से निकल कर जहाँ पूर्वदिशा का वैतालिक समुद्र था वहाँ पहुँचे और पाँच पाण्डवों से मिल वही स्कन्धावार (छावनी) स्थापित की।

कृष्ण ने चतुरंगिनी सेना को विसर्जित किय। और स्वयं पाँच पाण्डवो सहित छः रथों में बैठ लवण समुद्र के बीचोबीच होते हुए आगे बढ़े जहाँ अमरकंका नगरी थी, राजधानी का अग्र उद्यान था, वहाँ रथ को ठहराया। फिर दारूक नामक अपने सारथी को बुलाकर बोले : "जाओ अमरकंका नगरी में प्रवेश करो और राजा पद्मनाभ के पास जा, अपने दायें पैर से पादपीठ को ठुकरा, कुन्त के अग्रभाग से उसे लेख दो तथा ललाट में तीन भृकुटि चढा, आँखों को लालकर, रुष्ट, क्रुद्ध, कुपित और प्रचण्ड हो इस प्रकार कहो : "हे पद्मनाभ ! अप्रार्थित की प्रार्थना करनेवाले ! दुरंत और प्रात लक्षणवाले ! हीनपुण्य चतुर्दशी को जन्मे ! श्री, ह्री और बुद्धि से रहित ! आज तू जीवित नहीं रह सकता। क्या तू यह नही जानता कि तूने कृष्ण वासुदेव की बहन द्रौपदी का अपहरण किया है ? फिर भी अगर तू जीना चाहता है तो द्रौपदी

देवी को कृष्ण वासुदेव के हाथ सौंप दे। अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो बाहर निकल। स्वयं कृष्ण वासुदेव और पाँचों पाण्डव द्रौपदी के त्राण के लिए आये हुए है।"

कृष्ण की आज्ञानुसार सारथी राजा पद्मनाभ के पास पहुँचा और हाथ जोड़ उसे जय-विजय शब्दों से मांगलिक देता हुआ बोला: "स्वामी! यह मेरी निजी विनय प्रतिपत्ति है। अब अन्य मेरे स्वामी के मुख से निकली हुई आज्ञप्ति है।" ऐसा कह दारूक ने कृष्ण की आज्ञानुसार उनका सन्देश राजा पद्मनाभ को सुनाया।

पद्मनाभ क्रोध से लाल हो गया और भृकुटि चढ़ा कर बोला : "मै कृष्ण वासुदेव को द्रौपदी नही दूंगा। मैं स्वयं युद्ध के लिए सज्जित होकर आ रहा हूँ।" इसके बाद उसने दारूक का बिना सत्कार-सम्मान किए अपद्वार से उसे बाहर करा दिया। दारूक ने वापस आ सारी बाते कृष्ण वासुदेव से कही।

राजा पद्मनाभ शस्त्रों से सुसज्जित हो, सज्ज हस्तिरत्न पर आरूढ़ हुआ। घोड़े, हाथी आदि की चतुरंगी सेना साथ ली। और इस तरह जहाँ कृष्ण वासुदेव थे, उस ओर बढ़ने लगा।

पद्मनाभ को देख कृष्ण पाँचों पाण्डवों से बोले : "क्यों बालको! तुम पद्मनाभ के साथ युद्ध करोगे अथवा मैं स्वयं युद्ध करूँ और तुम लोग दूर रह कर देखोगे?" पाण्डव बोले : "स्वामी! हम युद्ध करेंगे। आप दूर रह हमारे युद्ध को देखें।"

इसके बाद पाँचों पाण्डव कवच पहन शस्त्र-सुसज्जित होकर रथारूढ हुए तथा जहाँ राजा पद्मनाभ था वहाँ आये। "हम रहेंगे

या राजा पद्मनाभ"—ऐसा कह पाण्डव पद्मनाभ के साथ युद्ध करने लगे।

राजा पद्मनाभ ने पाँचों पाण्डवों पर शीघ्र ही शस्त्रों का प्रहार शुरू किया। उनके अहंकार को मथ डाला, उनकी चिह्नभूत ध्वजा को गिरा दिया और उन्हें दिशा-प्रदिशाओं में भगा दिया।

पाँचों पाण्डव शत्रु सैन्य-शक्ति को सहन करने में अशक्त हो कृष्ण वासुदेव के पास आये। कृष्ण वासुदेव ने पूछा: "पाण्डवो! तुम लोगों ने क्या कह पद्मनाभ के साथ युद्ध शुरू किया था?" पाण्डव बोले: "स्वामी! हम लोगों ने यह कह युद्ध शुरू किया कि या तो हम रहेंगे या राजा पद्मनाभ।" कृष्ण बोले: "देवानुप्रियो! यदि तुम लोग यह कहकर युद्ध करते कि "हम राजा हैं पद्मनाभ नहीं तो तुम्हारी ऐसी गति नहीं होती। 'मैं ही राजा हूँ पद्मनाभ नहीं', ऐसी प्रतिज्ञा कर मैं युद्ध करता हूँ। तुम लोग दूर रह कर देखो?"

इसके बाद कृष्ण वासुदेव रथ पर आरूढ़ हो जहाँ राजा पद्मनाभ थे वहाँ आये। आकर श्वेत गाय के दूध और मोती के हार की तरह धवल तथा मल्लिका, मालती, सिंदूवार, कुंद पुष्प और चन्द्र की तरह शुभ्र, निज सैन्य को आनन्दित करनेवाला और शत्रु सैन्य को विनाश करनेवाला पाँचजन्य शंख हाथ में ग्रहण कर मुखवायु से पूरित किया। शंख के शब्द से राजा पद्मनाभ के सैन्य का तीसरा भाग हत हो गया।

इसके बाद कृष्ण ने सारंग नामक धनुष हाथ में ले, उसपर

प्रत्यंचा चढ़ा भयद् टंकार किया। धनुष के शब्द से शत्रु सैन्य का दूसरा एक तिहाई भाग हत-मथित हो भाग निकला।

सेना का मात्र एक तिहाई भाग शेष रह जाने से राजा पद्मनाभ सामर्थ्य, बल, वीर्य, पराक्रम, पुरुषार्थ से रहित हुआ। अपने को असमर्थ जानकर वह शीघ्रता से अमरकंका राजधानी की ओर बढ़ा और नगर में प्रवेश कर उसने दरवाजे बन्द करवा दिये और नगरोध में रहने लगा।

कृष्ण वासुदेव पीछा करते हुए अमरकंका आये। रथ को खड़ा किया। रथ से उतरे और वैक्रिय समुद्घात से एक विशाल नरसिंह रूप को विकुर्वित किया तथा महाशब्द के साथ पृथ्वी पर पद-प्रहार करने लगे। अमरकंका नगरी के प्राकार, गोपुर, अट्टालिकाएँ, चरिय, तोरण आदि सब गिर पड़े। उसके श्रेष्ठ महल और श्रीगृह चारों ओर से ध्वस्त हो धराशायी हो गए।

राजा पद्मनाभ भयभीत हो गया और द्रौपदी देवी के पास आ उसके चरणों पर गिर पड़ा।

द्रौपदी बोली : "क्या तुम अब जान गये कि कृष्ण वासुदेव जैसे उत्तम पुरुष का अप्रिय करके मुझे यहाँ लाने का क्या परिणाम है? खैर, अब भी तुम शीघ्र जाओ, स्नान कर, गीले वस्त्र पहन, वस्त्र का एक पल्ला खुला छोड़ अन्तःपुर की रानियों के साथ प्रधान-श्रेष्ठ रत्नों की भेंट साथ ले मुझे आगे रख कृष्ण वासुदेव को हाथ जोड़, उनके चरणों पर झुककर उनकी शरण-ग्रहण करो।

पद्मनाभ द्रौपदी के कथनानुसार कृष्ण वासुदेव का शरणागत

हुआ। वह हाथ जोड़, पैरों पर गिर कर बोला : "देवानुप्रिय! मैं आपकी ऋद्धि से लेकर अपार पराक्रम को देख चुका। मैं आपसे क्षमा-याचना करता हूँ। मुझे क्षमा करें। मैं पुनः ऐसा काम नही करूँगा।" ऐसा कह हाथ जोड़कर उसने कृष्ण वासुदेव को द्रौपदी देवी को सौंप दिया। कृष्ण बोले : "हे अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले पद्मनाभ! क्या तू नहीं जानता कि तू मेरी बहिन द्रौपदी को यहाँ लाया है? फिर भी अब तुझे मुझसे भय करने की जरूरत नही।"

कृष्ण द्रौपदी को साथ ले, रथ पर आरूढ़ हो, जहाँ पाँच पाण्डव थे वहाँ गये और अपने हाथों द्रौपदी को पाँच पाण्डवों को सौंपा।

(३) शंख-शब्द समाचारी[1]

राजा पद्मनाभ से युद्ध आरम्भ करते समय जब कृष्ण ने शंख-ध्वनि की उस समय अर्हत् मुनि सुव्रत धातकी खण्डद्वीप के अर्द्ध भरतक्षेत्र की चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में विराजमान थे। चम्पानगरी में कपिल नाम के वासुदेव थे। वे उस समय अर्हत् मुनि सुव्रत से धर्म सुन रहे थे। कृष्ण वासुदेव के शंख का शब्द ऐसे ही समय में कपिल वासुदेव को सुनायी पड़ा था।

शंख-शब्द सुन कपिल वासुदेव के मन में विचार हुआ : "क्या यह मान लूँ कि धातकी खण्डद्वीप के भारतवर्ष में दूसरा वासुदेव

१—ज्ञाताधर्मकथा—अ. १४ : १३० पृ. ४५

उत्पन्न हुआ है जिसके शंख का यह शब्द मेरे ही मुख से पूरित शंख के शब्द की तरह विलास पा रहा है ? क्या यह किसी दूसरे वासुदेव का शंखनाद नहीं है ?"

कपिल वासुदेव को मन में ऐसा विचार करते देख अर्हत् मुनि सुव्रत बोले : "कपिल वासुदेव ! धर्म सुनते समय जब तूने शंख-ध्वनि सुनी तो तुम्हारे मन में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई "क्या मैं मानूं कि भरतक्षेत्र में दूसरा वासुदेव उत्पन्न हुआ है जिसका शंख-शब्द सुनाई दे रहा है। क्या यह सत्य है ?"

कपिल वासुदेव बोले: "हाँ भगवन् ! आपने जो कहा वह ठीक है।"

अर्हत् मुनि सुव्रत बोले : "निश्चयतः न ऐसा कभी भूतकाल में हुआ है, न वर्त्तमान में हो रहा है और न भविष्य में होगा कि एक ही युग में, एक ही समय में दो अरिहन्त, दो चक्रवर्ती, दो बलदेव या वासुदेव हुए हों, होते हैं या होंगे।" यह कह उन्होंने द्रौपदी के अपहरण और उसके उद्धार की सारी बात बतलायी तथा कहा: "कृष्ण वासुदेव ने राजा पद्मनाभ के साथ युद्ध करते समय शंख फूंका उसीका यह शब्द तूने सुना जो तुम्हारे मुख से पूरित शंख-शब्द के समान इष्ट और कान्त था और उसी तरह विलास पा रहा था।"

यह सुन कपिल वासुदेव मुनि सुव्रत अर्हत् को वन्दन-नमस्कार कर बोले: "भगवन् ! मैं जाता हूँ। उस उत्तम पुरुष कृष्ण वासुदेव को देखूंगा।"

अर्हत् मुनि सुव्रत बोले: "देवानुप्रिय ! यह न कभी हुआ है,

न होना है और न होगा कि एक अर्हत् दूसरे अर्हत् को देखे, एक चक्रवर्ती दूसरे चक्रवर्ती को देखे, एक बलदेव दूसरे बलदेव को देखे, अथवा एक वासुदेव दूसरे वासुदेव को देखे। फिर भी तुम लवण समुद्र के बीचोबीच मे जाते हुए कृष्ण वासुदेव की श्वेतपीत ध्वजा का अग्र भाग देख सकोगे।"

कपिल वासुदेव ने मुनि सुव्रत को वन्दन-नमस्कार किया और हाथी पर आरूढ़ हो शीघ्रता के साथ वेलाकूल पहुँचे और कृष्ण वासुदेव की श्वेतपीत ध्वजा के अग्रभाग को देखा और बोले: "यह मेरे सदृश पुरुष, उत्तम पुरुष कृष्ण वासुदेव है जो लवण समुद्र के बीचोबीच होकर जा रहे है।" ऐसा कहकर उन्होंने पाँचजन्य को हाथ मे ले मुख की वायु से पूरित किया।

कृष्ण वासुदेव ने कपिल वासुदेव के शंख-शब्द को सुना और उन्होने भी अपना पाँचजन्य मुह की हवा से पूरित कर बजाया। इस तरह दोनो वासुदेवो ने शंख-शब्दो से समाचारी की—शख के शब्दो द्वारा मिलाप किया। तदुपरान्त कपिल वासुदेव अमरकंका नगरी पहुँचे। उन्होने पद्मनाभ को धिक्कारा और उसे निर्वासित कर उसके स्थान पर उसके पुत्र का राज्याभिषेक किया।

(४) पाण्डवों का निर्वासन[1]

द्रौपदी के उद्धार के बाद पाँचों पाण्डव और छठे कृष्ण छ: रथो पर आरूढ हो लवण समुद्र के बीचोबीच होते हुए जम्बुद्वीप

१—ज्ञाताधर्मकथा—अ. १६ : १३१ पृ. ४६-४८

के भरतक्षेत्र की ओर अग्रसर हुए। जब गंगा महानदी के समीप पहुँचे तो कृष्ण ने पाण्डवों से कहा "तुमलोग गंगा महानदी को पार करो इसी बीच में मै लवण-समुद्र के अधिपति सुस्थित देव से मिलकर आता हूँ।"

पाँचों पाण्डवों ने एक छोटी नौका की खोज की और उसमें बैठ महानदी गंगा को पार किया। गंगा से उत्तीर्ण होने के बाद उन्होने परस्पर बातचीत की "कृष्ण वासुदेव भुजा से गंगा महानदी पार करने में समर्थ है या नही यह देखना चाहिए।" ऐसा विचार कर उन्होंने नौका को छिपा दिया और कृष्ण वासुदेव की बाट जोहने लगे।

कृष्ण सुस्थित देव से मिल गंगा महानदी के तट पर पहुँचे। वहाँ उन्होने नौका की खोज की पर नौका न देख अपने एक हाथ मे घोड़े और सारथी सहित रथ को ग्रहण किया और दूसरे हाथ से साढे बासठ योजन विस्तृत गंगा महानदी को पार करने का प्रयत्न करने लगे। जब वे गंगा महानदी के मध्य भाग में पहुँचे तो श्रान्त, तान्त, परितांत और बद्ध स्वेद हो गये। उन्हें थका देख गंगा देवी ने जल का स्ताघ बना दिया। कृष्ण ने वहाँ एक मुहूर्त विश्राम किया, फिर गंगा महानदी को भुजा से पार कर जहाँ पाँच पाण्डव थे वहाँ पहुँचे और बोले : "देवानुप्रियो ! तुम लोग बड़े बलवान हो जो तुमलोगों ने साढ़े बासठ योजन विस्तृत गंगा महानदी को भुजाओं से पार किया। तुमलोगों ने इच्छा से ही राजा पद्मनाभ को पराजित नहीं किया।"

सच्ची बात कहते हुए पाण्डव बोले: "हमलोगों ने गंगा महानदी को एक छोटी नौका के सहारे पार किया है। आपके सामर्थ्य को देखने के लिए ही हमलोगों ने नौका को छिपा दिया और आपकी बाट जोहते रहे।"

यह सुन कृष्ण क्रोधित हो भृकुटि चढ़ाते हुए बोले : "ग्रोहो! जब मैंने दो लाख योजन विस्तृत लवण-समुद्र को पारकर पद्मनाभ को मथित किया, उसकी सेना को दशों दिशाग्रों में ताड़ित किया, ग्रमरकंका को ध्वस्त कर द्रौपदी को ग्रपने हाथों से प्राप्त किया, तब तुम लोगों ने मेरे पराक्रम के माहात्म्य को नहीं देखा ग्रौर ग्रब तुम मेरा माहात्म्य देखोगे?" ऐसा कह लोहदण्ड से उन्होंने पाण्डवों के रथों को चूर-चूर कर दिया ग्रौर पाण्डवों को निर्वासन की ग्राज्ञा दे दी तथा उस स्थान पर रथ-मर्दन नामक कोट की स्थापना की।

इसके बाद कृष्ण जहाँ स्कंधावार था वहाँ गये ग्रौर ग्रपनी सेना से मिले। फिर द्वारवती नगरी पहुँच नगर में सकुशल प्रवेश किया।

(५) पाण्डु-मथुरा की स्थापना[१]

निर्वासन की ग्राज्ञा के बाद पाण्डव हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ उन्होंने सारी बातें पाण्डु राजा से कहीं। पाण्डु राजा बोले: "पुत्रो! तुमने कृष्ण वासुदेव का ग्रप्रिय कर बहुत बुरा किया।"

१–ज्ञाताधर्मकथा–ग्र. १६ : १३२ पृ. ४८-४९

तदुपरान्त पाण्डु राजा ने कुन्ती देवी को बुलाया और बोले : "तुम द्वारवती नगरी जाओ और कृष्ण वासुदेव से निवेदन करो कि:, "देवानुप्रिय ! तुमने पाँचों पाण्डवों को निर्वासन की आज्ञा दी है। तुम दक्षिणार्द्ध भरत के स्वामी हो। अतः तुम्हीं आज्ञा दो कि पाण्डव किस दिशा-विदिशा में जायें ?"

कुन्ती देवी हाथी पर आरूढ़ हो द्वारवती नगरी पहुँचीं। कृष्ण ने उनका पूर्ववत् स्वागत किया और फिर आने का प्रयोजन पूछा। कुन्ती बोली: "पुत्र ! तुमने पाण्डवों को निर्वासन की आज्ञा दी है। तुम सारे दक्षिणार्द्ध भारत के स्वामी हो। अतः तुम्हीं बताओ वे किस दिशा-विदिशा में जायें ?"

कृष्ण बोले: "पितृभगिनी ! वासुदेव, बलदेव, चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष अपूतिवचन होते हैं। अतः पाँचों पाण्डव दक्षिण दिशा के वेलातट पर जायें और वहाँ पाण्डु-मधुरा नाम की नयी नगरी बसायें और मेरे अदृष्ट सेवक के रूप में रहें। ऐसा कह कर कृष्ण ने कुन्ती देवी को बड़े सत्कार-सम्मान के साथ विदा किया।

कुन्ती ने लौट कर सारी बातें पाण्डुराज के समक्ष रखी।

पाण्डुराजा ने पाँच पाण्डवों को बुला कृष्ण के कथनानुसार पाण्डुमधुरा नामकी नगरी बसा वहीं निवास करने की आज्ञा दी।

पाँचों पाण्डव भाई बल, वाहन, हाथी, घोड़ों सहित हस्तिनापुर से निकल दक्षिण दिशा के वेलातट पर पहुँच पाण्डु नगरी मधुरा बसा वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

(६) थावच्चापुत्र की प्रव्रज्या[1]

एक बार अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी पधारे। जब कृष्ण को यह मालूम हुआ तो उन्होंने कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर आज्ञा दी—"शीघ्र जाओ। सुधर्मा सभा में जाकर मेघ-घर्षण जैसे गम्भीर, मधुर शब्द करनेवाली कौमुदी-भेरी बजाओ।" कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया। शरद-ऋतु के मेघ की तरह उसका मधुर गम्भीर शब्द नव योजन विस्तृत और बारह योजन लम्बी द्वारवती नगरी के रास्ते-रास्ते, कोने-कोने में गूंज उठा। समुद्रविजय वगैरह दस दशार्ह, बलदेव आदि पाँच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार नृप गण, प्रद्युम्न आदि साढे तीन करोड़ कुमार, साम्ब आदि साठ हजार दुर्दांत साहसिक, वीरसेन आदि इक्कीस हजार वीर, महासेन आदि छप्पन हजार बलवान साहसिक पुरुष, रुक्मिणी आदि ३२ हजार रानियाँ, अनंगसेना आदि हजारों गणिकाएँ तथा अन्य ईश्वर आदि अनेक लोगों ने यह शब्द सुना। सुनते ही सजधज कर, कोई हाथी पर आरूढ़ हो, कोई रथ में बैठ, कोई शिविका में चढ, कोई अश्व पर आरूढ़ हो और कोई पैदल ही प्रस्थान कर कृष्ण वासुदेव के सम्मुख पधारे। उन्हें देख कृष्ण वासुदेव ने च तुरंगिनी सेना सजवाई। विजय नामक गन्धहस्ति को मँगाया और फिर उसपर चढ़कर सब के साथ अर्हत् अरिष्टनेमि के वन्दनार्थ रैवतक पर्वत पर गये।

१—ज्ञाताधर्मकथा—अ. ५ पृ. ७१-७२

द्वारवती का थावच्चापुत्र प्रव्रज्या लेने के लिए उद्यत हुआ। अभिनिष्क्रमण-सत्कार के लिए उसकी माता थावच्चा छत्र, मुकुट और चँवर आदि चीजें मांगने के लिए कृष्ण वासुदेव के पास गयी। कृष्ण बोले—"हे देवानुप्रिय ! तू निश्चित रह, मैं खुद ही उसका अभिनिष्क्रमण-सत्कार करूँगा।" इसके बाद कृष्ण वासुदेव चतुरंगिनी सेना के साथ थावच्चा सार्थवाही के घर आये और थावच्चापुत्र से बोले—"हे देवानुप्रिय ! तू मुण्ड होकर प्रव्रज्या ग्रहण न कर। तू मेरी भुजाओं की छाया का आश्रय लेकर मनुष्य सम्बन्धी विपुल काम-भोगों का सेवन कर। तेरे ऊपर से जाती हुई वायुकाय को निवारण करने में मै असमर्थ हूँ, इसके सिवाय यदि किंचित् भी बाधा उत्पन्न होगी, तो मै उसका निवारण करूँगा।" थावच्चापुत्र ने कहा—"देवानुप्रिय ! यदि आप मेरे जीवन का अन्त करनेवाली मृत्यु को आते हुए रोक सकते हों, यदि आप शरीर का रूप विनाश करनेवाली जरा को रोक सकते हो, तो मैं आपकी भुजाओ की छत्रछाया मे मानुषिक काम-भोगों को भोगता हुआ रहूँ।" कृष्ण बोले—"देवानुप्रिय ! मृत्यु और जरा दुरतिक्रम है। बलवान देव और दानव भी उन्हें नही रोक सकते। अपने कर्म-क्षय के अतिरिक्त दूसरा कोई इनका निवारण नहीं कर सकता।" थावच्चापुत्र ने कहा—हे देवानुप्रिय ! इसीलिए तो मैं दीक्षा लेकर अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति, और कषाय से संचित अपने कर्मों का क्षय करना चाहता हूँ।"

इसके बाद कृष्ण वासुदेव ने कौटुम्बिक पुरुषों को बुलाकर

आज्ञा दी—"जाओ देवानुप्रियो! द्वारवती नगरी के शृगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर आदि स्थानो पर श्रेष्ठ हस्ति के स्कन्ध पर आरूढ होकर जोर-जोर से उद्घोष करो—"हे देवानुप्रियो! ससार से उद्विग्न, जन्म-मृत्यु से भयभीत थावच्चापुत्र अर्हंत् अरिष्टनेमि के पास मुण्डित हो प्रव्रजित होना चाहता है। हे देवानुप्रियो! जो भी राजा, युवराज, देवी, कुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माण्डविक इम्य, श्रेष्ठि, सेनापति, सार्थवाह थावच्चापुत्र के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहे उसे कृष्ण वासुदेव अनुज्ञा देता है। उसके पीछे रहे हुए आतुर मित्र, ज्ञाति, निजक, सम्बन्धी या परिजन के योगक्षेम का वहन कृष्ण वासुदेव करेगे। जाओ इसी तरह की घोषणा एकाधिक बार करो।" थावच्चापुत्र के अनुराग से हजार पुरुष निष्क्रमण के लिए तैयार हुए। प्रत्येक एक-एक हजार पुरुषो मे वहन की जाती हुई शिविका मे आरूढ हो अपने मित्र, ज्ञाति, आदि के परिवार के साथ थावच्चापुत्र के साथ आये। कृष्ण ने थावच्चा-पुत्र का अभिनिष्क्रमण-अभिषेक कराया। श्वेत और पीत—चाँदी और सोने के कलशो से उसे स्नान करवाया और हर तरह के अलकारो मे उसे विभूषित किया। फिर एक हजार पुरुषो से वहन की जाती हुई शिविका पर उसे बैठाया गया। इस तरह द्वारवती नगरी के मध्य भाग से निकल वे अरिहत अरिष्टनेमि के पास पहुँचे। थावच्चापुत्र को सन्मुख कर कृष्ण बोले—

"हे देवानुप्रिय! यह थावच्चापुत्र थावच्चा सार्थवाही का एकमात्र पुत्र है। यह अपनी माँ का इष्ट, कान्त, जीवन-रूप तथा

उच्छ्वास और निश्वास-रूप है। यह उसके हृदय में आनन्द उत्पन्न करनेवाला है। वह इसका दर्शन दुर्लभ मानती है। जैसे उत्पल पंक में उत्पन्न होने और जल में वृद्धि पाने पर भी पंक-रज अथवा जल-कण से लिप्त नहीं होता उसी तरह थावच्चापुत्र काम से उत्पन्न हुआ है तथा भोगों में बड़ा हुआ है तथापि वह कामरज और भोगरज से निर्लिप्त है। वह संसार से उद्विग्न और जन्म-जरा और मरण से भयभीत है। अस्तु। "हे देवानुप्रिय! वह आपके पास प्रव्रजित होना चाहता है। उसकी माँ आपको यह शिष्य-भिक्षा देती है। आप इस भिक्षा को ग्रहण करें।"

इसके बाद ईशान कोण में जा थावच्चापुत्र ने आभरण, माला और अलंकार उतार डाले। थावच्चा सार्थवाही ने उतारे हुए हंस के समान श्वेतवस्त्र, आभरण, माला और अलंकार ग्रहण किये और मोती के हार, जल की धारा, सिन्दुवार के पुष्प और छेदे हुये मोती की श्रेणी के जैसे अश्रु बहाती हुई बोली—"हे पुत्र यत्न करना, घटना करना, पराक्रम करना। संयम में जरा भी प्रमाद न करना।" इसके बाद वह जिस दिशा से आयी थी, उसी दिशा में चली गयी। थावच्चापुत्र ने उन हजार पुरुषों के साथ पंचमुष्टि लोच किया और प्रव्रज्या ग्रहण की।

(७) कृष्ण के प्रश्न[1]

एक बार अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी में पधारे। कृष्ण

१—अन्तकृत्दशा—वर्ग ५ अ. १

वासुदेव पाद-वन्दन के लिए गये और भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर, पर्युपासना करने लगे। कृष्ण वासुदेव की पद्मावती रानी भी यह बात सुन हृष्ट-तुष्ट हो दर्शन करने गयी और पर्युपासना करने लगी। अर्हत् अरिष्टनेमि ने कृष्ण वासुदेव और पद्मावती देवी से धर्मकथा कही। परिषद् वापस गयी।

तदन्तर कृष्ण वासुदेव ने अरिहंत अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार कर प्रश्न किया—"इस नौ योजन प्रमाण विस्तृत, देवलोक समान द्वारवती नगरी का विनाश किस कारण होगा?" अर्हत् अरिष्ट-नेमि बोले "हे कृष्ण इस विस्तृत देवपुरी समान द्वारवती नगरी का विनाश मदिरा, अग्नि और द्वीपायन इन तीन कारणों से होगा।"

यह सुन कृष्ण वासुदेव के मन में यह विचार आया—"धन्य है जालि, मयालि, (उवयाली), पुरुषसेन, वारिषेण, प्रद्युम्न, साम्ब, अनिरुद्ध, दृढ़नेमि, सत्यनेमि आदि कुमार कि जिन्होंने राज्य, हिरण्यादि को त्याग अरिहंत अरिष्टनेमि के पास मुण्ड हो प्रव्रज्या ली है। मैं अधन्य हूँ, अकृत पुण्य हूँ कि राज्य और अन्तःपुर तथा मनुष्य सम्बन्धी काम-भोगों में इस तरह मूर्च्छित रह अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या लेने में असमर्थ हूँ।"

"कृष्ण!" इस तरह सम्बोधित कर अर्हत् अरिष्टनेमि कृष्ण वासुदेव से बोले—"हे कृष्ण! तुम्हारे मन में अभी-अभी ऐसा विचार आया कि तुम अधन्य आदि हो जो मेरे समीप प्रव्रज्या लेने में असमर्थ हो। क्या यह ठीक है?" कृष्ण वासुदेव बोले —"हाँ, हे प्रभु! यह ठीक है।" अर्हत् अरिष्टनेमि बोले—

"हे कृष्ण ! निश्चय ही न कभी ऐसा हुआ है, न होता है और न होगा कि वासुदेव हिरण्य आदि का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करें। सर्व वासुदेवों के पूर्व भव में निदान किया हुआ होता है जिससे वे प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते।" कृष्ण वासुदेव ने फिर पूछा—"हे भदन्त ! यहाँ से काल-समय प्राप्त कर मैं कहाँ जाऊँगा ? कहाँ उत्पन्न होऊँगा ?" भगवान् बोले—"हे कृष्ण ! द्वारवती नगरी द्वीपायन देव के कोप से भस्म होगी उस समय माता-पिता और स्वजनों से रहित होकर तुम अकेले ही राम बलदेव के साथ दक्षिण दिशा के किनारे बसी पाण्डु मथुरा नामक नगरी की ओर पाण्डु राजा के पाँचों पाण्डव पुत्रों के पास जाने के लिए निकलोगे। उस समय कौशाम्बी नगरी के वन कानन में न्यग्रोध नामक श्रेष्ठ वृक्ष के नीचे पृथ्वी शिलापट्ट पर पीत वस्त्र द्वारा शरीर को आच्छादित कर तुम शयन करोगे। उस समय जरा कुमार द्वारा कोदण्ड से छोड़े हुए तीक्ष्ण बाण द्वारा बाँयें पैर में बींधा जाकर काल समय में मृत्यु को प्राप्त हो उज्ज्वल वेदनावाली बालुका प्रभा नामक तीजी नरक पृथ्वी में नैरयिक रूप से उत्पन्न होगा।"

अर्हत् अरिष्टनेमि से यह सुन कृष्ण वासुदेव हतप्रभ हो सोच करने लगे। अरिष्टनेमि कृष्ण को सम्बोधित कर बोले—"हे कृष्ण ! तू आर्त्तध्यान न कर। तू उस उज्ज्वल वेदनावाली तीसरी नरक भूमि से निकल सीधा इसी जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में आगामी उत्सर्पिणी में पुण्ड्र जनपद में शतद्वार नामक नगर में बारहवां अमम नामक अरिहंत होगा। वहाँ अनेक वर्षों तक केवली-पर्याय

का पालन कर तू सिद्ध होगा।"

यह सुन हृष्ट-तुष्ट हो कृष्ण वासुदेव ने बाहु का आस्फोटन किया, आस्फोट कर उछाल मारी, उछाल मार पादन्यास किया, पादन्यास कर निनाद किया। फिर अरिहंत अरिष्टनेमि को वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर हाथी पर आरूढ़ हो, जहाँ द्वारवती नगरी और अपना घर था, वहाँ आए।

(८) पद्मावती की दीक्षा[1]

एक बार अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारवती नगरी के बाहर सहस्राम्र-वन नामक उद्यान में पधारे। कृष्ण वासुदेव दर्शन के लिए गए। भगवान् के आने की खबर पाकर पद्मावती देवी भी दर्शन के लिए गयी। भगवान् ने कृष्ण वासुदेव और पद्मावती देवी को धर्मकथा सुनायी। परिषद् के वापस चले जाने के बाद इस अवसर पर कृष्ण ने द्वारिका और अपने विषय में कई प्रश्न पूछे जिनका वर्णन ऊपर दिया जा चुका है। प्रश्नोत्तर के बाद कृष्ण लौट गये। धर्म-कथा सुन पद्मावती का हृदय वैराग्य से आप्लावित हो गया। उसने कृष्ण वासुदेव से पूछकर प्रव्रज्या लेने की इच्छा प्रगट की। अस्तु कृष्ण के पास वापस पहुँच पद्मावती देवी विनय पूर्वक बोली—"हे देवानुप्रिय! आपकी आज्ञा पा मैं अर्हत् भगवान् अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।" कृष्ण बोले—"देवानुप्रिये? ऐसा ही कर।"

१—अन्तकृत्दशा—वर्ग ५ अ. १

इसके बाद कृष्ण ने अभिनिष्क्रमण-अभिषेक की विशाल तैयारी करवाई। पद्मावती देवी को पट्ट के ऊपर बिठाकर एक सौ आठ सोने के कलशों द्वारा अभिषिक्त किया। फिर सर्व अलंकारों से अलंकृत कर हजार पुरुषों द्वारा वहन की जानेवाली शिविका में बैठा, रैवतक पर्वत पर सहस्राम्र-वन उद्यान में पहुँचे। वहाँ शिविका से पद्मावती देवी को उतार अर्हत् अरिष्टनेमि के पास आकर उन्हें विधिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और बोले—"हे भदन्त! यह मेरी अग्रमहिषी पद्मावती देवी मुझे अत्यन्त इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ, मनाप और अभिराम है। हे देवानुप्रिय! मैं आपको उसे शिष्या के रूप में भिक्षा में देता हूँ। हे देवानुप्रिय! आप इस शिष्या को भिक्षा स्वरूप ग्रहण करें।" भगवान् बोले "जैसा तुम्हें सुख हो।" इसके बाद पद्मावती देवी उत्तर-पूर्व दिशा की ओर चली गयी। अपने आभूषण और अलंकार उतारकर उसने स्वयं पंच मुष्टि लोच किया। फिर अर्हत् अरिष्टनेमि के पास आकर विधिपूर्वक वन्दन-नमस्कार कर बोली—हे भगवन्! यह संसार पलीत हो रहा है, सुलग रहा है। भयंकर रूप से दह रहा है। यह जरा और मरण से संत्रस्त है। जैसे घर में आग लगने पर गृहपति अपनी सारी वस्तुओं को निकाल लेता है, उसी प्रकार हे भगवन्! मैं अपनी इस प्रिय और इष्ट आत्मा को सुलगते संसार से बचा लेना चाहती हूँ। आप मुझे प्रव्रज्या दें!" अर्हत् अरिष्टनेमि ने पद्मावती को स्वयं प्रव्रज्या दी और उसे यक्षिणी नामक आर्या को शिष्या-रूप में सौंपा। पद्मावती ने आर्या यक्षिणी

से सामायिक आदि ग्यारह अगो का अभ्यास किया। पद्मावती आये दिन अनेक उपवास, दो दिन के उपवास, तीन दिन के उपवास, चार दिन के उपवास, पाँच दिन के उपवास, अर्द्ध मास के उपवास, मास के उपवास आदि विविध तप-कर्मो से अपनी आत्मा को भावित करती हुई रहने लगी। इस तरह उसने २० वर्षों तक चारित्र-पर्याय का पालन किया। अन्त मे एक माह की संलेखना कर अपना कार्य पूरा किया।

(६) देव-आराधना

जब द्रौपदी देवी के उद्धार के लिए कृष्ण पाण्डवो को साथ लेकर अमरकका जाने लगे रास्ने में लवण-समुद्र को पार करने की आवश्यकता पडी। उस समय कृष्ण ने देव-आराधना की उसका वर्णन इस प्रकार है--

कृष्ण वासुदेव श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ हो दस दशार्ह यावत् छप्पन हजार सुभटों के साथ जहाँ पूर्व दिशा का वैतालिक (लवण) समुद्र था वहाँ आकर पाण्डवो से मिले। वहाँ उन्होने स्कन्धावार (शिविर) की स्थापना की। बाद में पौषधशाला में प्रवेशकर कृष्ण ने सुस्थित देव का स्मरण किया।

कृष्ण वासुदेव के अष्टम तप के पूर्ण होने पर सुस्थित देव ने आकर कहा "देवानुप्रिय! कहिये, मै क्या करूँ।"

कृष्ण बोले . "देवानुप्रिय! देव ने द्रौपदी देवी का अपहरण कर राजा पद्मनाभ के भवन में उसका संहरण किया है। अत: पाँच पाण्डव, मुझे तथा हम छ: जनों के छ: रथों को लवण

समुद्र से जाने का मार्ग दो, जिससे मैं अमरकंका राजधानी में जाकर द्रौपदी देवी की खोज करूँ।"

सुस्थित देव बोला—"देवानुप्रिय! जिस प्रकार राजा पद्मनाभ के पूर्व संगतिक देव ने द्रौपदी देवी का अपहरण कर उसका संहरण किया है उसी प्रकार चाहो तो मैं भी द्रौपदी देवी को धातकी खण्डद्वीप के भारत की अमरकंका राजधानी से अपहरण कर हस्तिनापुर में रखूँ? अथवा चाहो तो उस पद्मनाभ को उसके पुर, बल, वाहन सहित लवण समुद्र में डुबा दूँ।"

कृष्ण वासुदेव बोले: "देवानुप्रिय! तुम द्रौपदी देवी का संहरण मत करो। सिर्फ हम छहों के रथों को लवण-समुद्र से जाने का मार्ग दो। मैं स्वयं द्रौपदी देवी की सहायता के लिए पहुँचूँगा।" सुस्थित देव बोला: "देवानुप्रिय! ऐसा ही होगा।" इस प्रकार कह उसने कृष्ण सहित छः रथों को लवण—समुद्र से जाने का मार्ग दिया।

(१०) गज सुकमाल का जन्म

कृष्ण द्वारा देवाराधना के एक अन्य प्रसंग का उल्लेख भी आगम में पाया जाता है। वह इस प्रकार है:

देवकी ने कृष्ण से पूर्व क्रमशः छः पुत्रों को जन्म दिया। प्रसव के समय हरिणेगमेषी देव देवकी के पुत्र को हथेली में ग्रहण कर लेता और उसके स्थान पर अन्य मृत पुत्र को रख देता। इस तरह पुत्र-अपहरण के कारण देवकी बच्चों की बाल-क्रीड़ा का अनुभव नहीं कर सकी। एक दिन अपने भवन में शैय्या पर बैठ वह चिंता

मग्ना हो गयी। उसके मन में ऐसे विचार उत्पन्न हुए : "मैंने एक सदृश, रूप-वर्ण-वय में सदृश, नीलोत्पल, भैंस के शृंग, अलसी के फूल के वर्णवाले और नलकूबर के समान सात पुत्रों को जन्म दिया पर एक के भी बाल-भाव का अनुभव न कर सकी। कृष्ण वासुदेव भी छः-छः माह के बाद मेरे पाद-वन्दन को आता है। वे माताएँ धन्य हैं, जो स्वकुक्षि से उत्पन्न स्तन-दुग्ध में मुग्ध मधुर संलाप करते हुए, तुतली बोली बोलते हुए तथा स्तन मूल से कांख की ओर अभिसरण करते हुए मुग्ध बालक को अपने कोमल कमल सदृश हाथों से ग्रहण कर गोदी में बिठाती हैं और बार-बार उनके समुल्लाप मधुर और मंजुल बोली को सुनती हैं, किन्तु मैं अधन्य हूँ, अपुण्य हूँ कि ऐसा कुछ भी अनुभव नहीं कर सकी। इस तरह के मन संकल्पों से आहत बनी चिन्ता और शोक के सागर में डूब, हथेली पर मुँह रख, आर्तध्यान में प्राप्त हो, देवकी भूमि में दृष्टि गड़ा चिन्ता करने लगी।

इसी समय कृष्ण वासुदेव स्नान, बलिकर्म और कौतुक-मंगल-प्रायश्चित कर, शुद्ध अल्प वेषयुक्त हो, श्रेष्ठ तथा मंगल वस्त्र पहन, सर्वालंकारों से विभूषित हो, देवकी के पाद-वन्दन के लिए आये। उन्होंने माता के समीप जाकर चरण-स्पर्श किया। माता को उदास देखकर बोले: "माँ! अन्य समय तो मुझे देखकर तू हृष्ट-तुष्ट होती, चित्त में आनन्द, मन में प्रीति और परम सौमनस्य का अनुभव करती, हर्ष से तेरी छाती फूल जाती थी, पर आज तू न जाने किन मनः-संकल्पों के आहत होने से चिन्ता कर रही हो।" देवकी बोली: "पुत्र! मैंने नलकूबर सदृश सात पुत्रों को जन्म दिया परन्तु

किसी के बाल-भाव का आनन्दानुभव न कर सकी। वे माताएँ धन्य हैं जो अपनी कोख से उत्पन्न बालकों की बालक्रीड़ा का आनन्दानुभव करती हैं। किन्तु मैं बड़ी अभागिन हूँ।"

कृष्ण बोले: "माता ! तुम चिन्ता न करो। मैं ऐसा उपाय करूँगा जिससे मुझे कनिष्ठ सहोदर भाई हो।" इस प्रकार इष्ट-कान्त-प्रिय शब्दों से माता को आश्वासन दे कृष्ण लौट गये।

कृष्ण ने सोचा—निश्चय ही मनुष्य-सम्भव उपाय से शक्य नहीं कि मुझे कनिष्ठ सहोदर भाई हो। दैविक उपाय के सिवाय अन्य चारा नहीं। अतः मेरे लिये श्रेयस्कर है कि मैं पौषधशाला में जा, पौषध ग्रहण कर, ब्रह्मचर्य रख, मणि-सुवर्ण को उतार, पुष्प माला एवं विलेपन का परित्याग कर मूसलादि शस्त्रों को छोड़ किसीको भी साथ में न रख अकेला ही दर्भासन पर बैठ अष्टम भक्त तप को ग्रहण कर हरणे गमेषी देवता का स्मरण करूँ जिससे कि वह देव मेरी माता को कनिष्ठ सहोदर भाई दे। ऐसा विचार कृष्ण जहाँ पौषधशाला थी वहाँ आये और पौषधशाला का प्रमार्जन किया, उच्चार प्रस्रवन भूमि की प्रतिलेखना की। दर्भ संस्तारक का प्रति-लेखन किया और उसपर बैठ ब्रह्मचर्य के साथ अष्टम भक्तप ग्रहण कर हरण गमेषी देव का, पूर्वोक्तरूप से ध्यान करने लगे।

जब तेला (त्रिदिवसीय उपवास) पूर्ण होने को आया तब हरणे गमेषी देव का आसन चलायमान हुआ। अवधिज्ञान से हरणे गमेषी देव ने आसन चलायमान होने का कारण जाना और उनके मन में इस प्रकार का संकल्प हुआ: "अर्द्ध भरत के स्वामी द्वारवती नगरी के

अधिपति कृष्ण-वासुदेव पौषधशाला मे पौषधव्रत अष्टम भक्तप ग्रहण कर मुझे स्मरण कर रहे है। अत मेरे लिए प्रादुर्भूत होना आवश्यक है।" ऐसा विचार कर उत्तर-पूर्व दिशा भाग मे जा देव ने वैक्रिय समुद्घात से असख्यात योजन का दण्ड नि:सृत किया। आवश्यक बादर पुद्गलो को निकाल, आवश्यक सूक्ष्म पुद्गलों को ग्रहण किया और फिर कृष्ण-वासुदेव पर अनुकम्पा वाला वह देव पूर्वभव जनित स्नेह, प्रीति, बहुमान से उत्पन्न भावना के वश हुआ. स्वर्गलिन, विमानो मे श्रेष्ठ विमान से निकल कर पृथ्वी तल पर तीव्र गति से आने के लिए निकला, और असंख्य द्वीपो का उल्लंघन करता हुआ जहाँ द्वारवती नगरी थी, जहाँ पौषधशाला मे पौषध कर कृष्ण वासुदेव उसका ध्यान कर रहे थे, वहाँ आया। पाँच वर्ण वाले दिव्य घुंघर युक्त श्रेष्ठ वस्त्र को पहने वह हरणे गमेषी देव आकाश में ठहर कृष्ण-वासुदेव से बोला "देवानुप्रिय! मैं सौधम कल्पवासी हरणे गमेषी महर्द्धिक देव हूँ। जिसके लिए तुम पौषधशाला में पौषध कर ध्यान कर रहे वह मैं ही हूँ। अत: देवानुप्रिय! आज्ञा दो मै क्या करूँ? क्या दूँ? क्या प्रदान करूँ? तुम्हारे हृदय की क्या इच्छा है?" कृष्ण वासुदेव अन्तरिक्ष मे उपस्थित देव को देख हृष्ट-तुष्ट हो पौषध को पार और अजलिबद्ध हो बोले "मैं आप द्वारा प्रदत्त कनिष्ठ सहोदर भाई चाहता हूँ।" देव बोला—"देवानुप्रिय! देवलोक से च्युत हो तुम्हें एक कनिष्ठ सहोदर भाई होगा। बालभाव से मुक्त हो यौवन वय के प्राप्त होने पर वह अर्हत् अरिष्टनेमि के पास मुण्डित

यावत् प्रव्रजित होगा।" इस प्रकार दो-तीन बार कहकर वह देव जिस दिशा से प्रादुर्भूत हुआ था उसी दिशा से वापस चला गया।

कृष्ण-वासुदेव पौषधशाला से निकले और जहाँ देवकी देवी थी वहाँ आये। माता का पाद-स्पर्श कर बोले—"माँ! मुझे एक कनिष्ठ सहोदर भाई होगा।" इस प्रकार इष्ट कान्त शब्दों से माँ को आश्वसित कर कृष्ण जिस दिशा से आये थे उसी ओर चले गये। कालान्तर में सहोदर गज सुकमाल का जन्म हुआ[1]।

(११) गज सुकमाल की प्रव्रज्या[2]

गज सुकमाल को भगवान् अरिष्टनेमि की वाणी सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने हाथ जोड़ भगवान् से कहा—"भदन्त! मैं माता-पिता से पूछ आपसे प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा।" इस प्रकार निवेदन कर गजसुकमाल घर आये और माता-पिता के समक्ष दीक्षा लेने के भाव प्रगट किये। यह बात सुनकर वे बोले: "वत्स! तुम वर्द्धितकुल नहीं हो इसलिए पहले विवाह करो, बाद में पुत्र होने पर अपना भार उसे सौंपकर दीक्षा ग्रहण करना।" पर गजसुकमाल का विचार नहीं बदला।

गजसुकमाल के वैराग्य की बात सुनकर कृष्ण वासुदेव भी गजसुकमाल के पास आये। उन्होंने गजसुकमाल को हृदय से लगा अपनी गोद में बैठाकर कहा "देवानुप्रिय! तुम मेरे सहोदर

१—अंतगडदसाओ—वर्ग ३ अ. ८
२—अंतगडदसा—वर्ग ८ : ३ पृ. १५-१६

छोटे भाई हो। अत. तुम अभी अर्हत् अरिष्टनेमि के समीप दीक्षा मत लो। मै आज ही अत्यन्त समारोह के साथ तुम्हारा राज्याभिषेक कर तुम्हें इस द्वारवती नगरी का राजा बनाऊँगा।"

यह सुनकर गजसुकमाल बोले: "देवानुप्रिय! कामभोग का आधारभूत यह स्त्री-पुरुष सम्बन्धी शरीर मल, मूत्र, कफ, वमन, पित्त, शुक्र और शोणित का भण्डार है। यह शरीर अस्थिर है, अनिश्चित है, अनित्य है। सडना, गिरना और नष्ट होना इसका धर्म है। आगे-पीछे कभी न कभी अवश्य यह नष्ट होनेवाला है। यह शुक्र का स्थान है, शोणित का स्थान है, दुर्गन्ध, श्वास और निश्वास का स्थान है। यह दुर्गन्ध युक्त मूत्र, विष्ठा और पीप से पूर्ण है। इस शरीर को एक दिन अवश्य छोडना होगा। इसलिए आप लोगो की आज्ञा लेकर अर्हत् अरिष्टनेमि के समीप प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ।"

गजसुकमाल को अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल कथन से समझाने मे असमर्थ होकर कृष्ण वासुदेव और माता-पिता बोले—"पुत्र! हमलोग तुम्हें एक दिन के लिए भी राज सिहासन पर बैठाकर तेरी राज्यश्री देखना चाहते है। इसलिए तुम एक दिन के लिए ही इस राज्य लक्ष्मी को स्वीकार करो।" माता-पिता और बड़े भाई के इस अनुरोध से गजसुकमाल चुप हो गये। तदनन्तर उनका राज्याभिषेक किया गया और वे राजा हो गये।

उनके राजा होने के बाद—माता-पिता ने और कृष्ण-वासुदेव ने पूछा—"तुम क्या चाहते हो?" गजसुकमाल बोले—"संयम

ग्रहण करना चाहता हूँ।" उसके बाद गजसुकमाल की आज्ञा से संयम की सभी सामग्रियाँ लायी गईं। प्रव्रजित हो गजसुकमाल अनगार हुए तथा इर्या समिति आदि से युक्त बनकर शब्द आदि विषयों से निवृत्त हो सभी इन्द्रियोंको अपने वशमें कर गुप्त ब्रह्मचारी हो गये।

(१२) सानुक्रोश हृदय

कृष्ण का हृदय बड़ा दयालु था। एक बार वे अर्हत् अरिष्ट-नेमि के दर्शन के लिए जा रहे थे। वे हस्ति पर आरूढ़ थे। कोरंट फूलों की माला से सुवासित छत्र उनपर धारण किया हुआ था। श्वेत चँवर उन पर डुलाये जा रहे थे। सैनिक समुदायों से वे घिरे हुए थे। द्वारवती नगरी के बीचोबीच से निकलते समय उन्होंने एक जीर्ण, जरा-जर्जरित पुरुष को देखा जो एक बड़े भारी ईंटों के ढिग से एक-एक ईंट उठाकर बाहर राजपथ से भीतर ले जा रहा था। हस्ति पर आरूढ़ होते हुए भी कृष्ण वासुदेव ने उस पुरुष के प्रति अनुकम्पा से एक ईंट उठा बाहर राजपथ से गृह के अन्दर रखी। कृष्ण-वासुदेव को इस प्रकार ईंट उठाते देखकर अनेक पुरुषों ने उस महान् ईंट राशि को राजपथ से उठाकर गृह के अन्दर रख दिया[१]।

(१३) परिवार की देख-भाल

कृष्ण में परिवार की देख-भाल का गुण भी दिखलायी देता है। उन्होंने अपने सहोदर कनिष्ठ भाई गजसुकमाल के ब्याह के लिए

१—अंतगडदसा—वर्ग ३ अ. ८ पृ. १८-१९

स्वय कन्या का चुनाव किया था[१]। इतना ही नही अपने बाबा के पुत्र अरिष्टनेमि का विवाह-सम्बन्ध भी उन्होने ही ठीक किया था[२]।

(१४) मानमर्दक

कृष्ण ने अति भयंकर गर्जना करते हुए घमण्डी चाणूरमल्ल का विनाश किया। रिष्ट नामक दुष्ट बैल का उन्हे वध करना पडा था। दुष्ट नाग के दर्प को मथने के प्रसंग का भी उल्लेख है। उन्होने यमलार्जन वृक्षो का रूप धारण कर छिपे विद्याधरो का मान भग किया। दुष्ट महाशकुनि और पूतना का विनाश किया और कस के मुकुट को मोडा[३]।

जरासध कृष्ण के शत्रु थे। उसने बडे अभिमान से कृष्ण के साथ चक्रयुद्ध किया और स्वचक्र मे ही हत होकर मारा गया[४]।

कृष्ण का रुक्मिणी देवी के लिए शिशुपाल के साथ और पद्मावती देवी के लिए अनेक राजाओ के साथ युद्ध करना पडा था। उन्हे रोहिणी के लिए भी युद्ध करना पडा था, ऐसा उल्लेख है[६]। इन सब युद्धो मे वे विजयी हुए थे।

१—अंतगडदसा—वर्ग ३ अ. ८ पृ. १४-१५
२—उत्तराध्ययन—२२ : ६, ८
३—प्रश्न व्याकरण—अधर्म द्वार ४
४—समवायांग—सू. १५८
५—प्रश्न व्याकरण—अधर्मद्वार—४
६—प्रश्न व्यारकण—अधर्मद्वार—४

शिशुपाल तो उनके साथ युद्ध में इतना कायर सिद्ध हुआ कि उसकी कायरता ने एक कहावत का रूप ही धारण कर लिया[1]।

(१५) धर्मानुराग

कृष्ण अर्हत् अरिष्टनेमि के बड़े भक्त थे। अर्हत् अरिष्टनेमि का अनेक बार द्वारवती नगरी में आने का उल्लेख मिलता है। वे जब भी पधारते कृष्ण के नन्दनवन या सहस्राम्र-वन उद्यान में विराजते। कृष्ण राज्य-परिवार और रानियों के साथ उनके दर्शन के लिए जाते और उनसे धर्मोपदेश सुनते[2]।

कृष्ण की माता देवकी के बाल्यावस्था में अतिमुक्त कुमार श्रमण के दर्शन करने की घटना का उल्लेख मिलता है[3]। इससे देवकी की धार्मिक भावना का कुछ पता लगता है। वह साधु सन्तों के प्रति बड़ा आदर-भाव रखती थी। थाल भर-भर कर केशरिया मोदक देने की घटना से उसकी श्रद्धालुता का पता चलता है[4]। एक वक्त अपने मन की शंका को दूर करने के लिए

१–सूयगडांग–अ. ३ उ. १ : १, ३
२–(क) निरयावलिका–वर्ग ५ अ. १
(ख) ज्ञाताधर्मकथा–अ. ५ : ५८ पृ. ६९
(ग) अंतगडदसाओ–वर्ग १ : १ पृ. ४; वर्ग ३:८ पृ. १५; वर्ग ३ : ८ पृ. १८-१९; वर्ग ५ : १ पृ. २६; वर्ग ५ : २; वर्ग ५ : ९
३–अंतगडदसाओ–वर्ग ३ अ. ८ पृ. १०
४–अंतगडदसाओ–वर्ग ३ अ. ८ पृ. ९

वह किस प्रकार अर्हत् अरिष्टनेमि के दर्शन के लिए गयी थी उसका उल्लेख किया जा चुका है[1]।

कृष्ण प्रव्रज्या समारोह मे सोत्साह भाग लिया करते और प्रव्रजितों के परिवार के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर ले लेते। इस तरह की घोषणा वे पहले से ही करा देते थे[2]।

कृष्ण के परिवार के अनेक लोगों ने प्रव्रज्या ग्रहण की थी। इनकी रानियों में से आठ के प्रव्रज्या लेने का उल्लेख मिलता है[3]। उनके पुत्र दारुक, अनादृष्टि, प्रद्युम्न कुमार, साम्बकुमार और पौत्र अनिरुद्ध ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी[4]। कृष्ण के पुत्र साम्ब की पत्नियाँ मूलश्री और मूलदत्ता भी प्रव्रजित हुईं[5]। इनके सहोदर भ्राताओं मे ७ और सौतेले भाइयों में से ६ के प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है[6]। वृष्णि पुँगव अरिष्टनेमि कृष्ण के बाबा के पुत्र थे और केवल-ज्ञान प्राप्त कर अर्हत् हुए थे[7]। अर्हत् अरिष्टनेमि के तीन भाई रथनेमि, सत्यनेमि और दृढ़नेमि ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की।

१—अंतगडदसाओ—वर्ग ३ अ. ८ पृ. ११-१२
२—ज्ञाताधर्मकथा—अ. ५ : ५६ पृ. ७१
अंतगडदसा—वर्ग ५ : १ पृ. २६
३—अंतगडदसाओ—वर्ग ५ अ. १-८; स्थानांग—सू. ६२६
४—अंतगडदसाओ—वर्ग ३ : १२; वर्ग ३ : १३; वर्ग ४ : ६; वर्ग ४ : ७; वर्ग ४ : ८
५—अंतगडदसाओ—वर्ग ५ : ६, १
६—अंतगडदसाओ—वर्ग ३ : १-६; ३ : ८; ३: ७; ४ : १-५
७—उत्तराध्ययन—२२ : ४-२७

और सिद्ध हुए थे[1]। इसी तरह कृष्ण के विमातृ ज्येष्ठ भाई राम बलदेव के सुमुख आदि पन्द्रह पुत्रों के दीक्षा लेने का उल्लेख मिलता है[2]। अन्धक वृष्णि के गौतम आदि पुत्रों की प्रव्रज्या का उल्लेख भी मिलता है[3]।

---:०:---

१—उत्तराध्ययन—२२ : ३४; अंतगडदसाओ—४ : ६; ४ : १०
२—अंतगडदसाओ—३ : ६ - ११; निरयावलिका—५ : १
३—अंतगडदसाओ—१ : १०; २ : १-८

परिशिष्ट—क

पारिभाषिक शब्द सूची और कोष

अनगार (पृ. १२) :—अगार का अर्थ घर होता है। जो घर रहित हो उसे 'अनगार' कहते हैं। यह शब्द पंच महाव्रतधारी साधु का द्योतक है। जिसके पाप करने की जरा भी छूट न हो उसे अनगार कहते हैं।

अनगारिता (पृ. १२) :—गृहवास को छोड़कर घर रहित अनगार होना। साधुत्व।

अनुत्तर (पृ. १०):—जो किसी से उत्तर—न्यून—हीन न हो। जो सर्वोत्तम—श्रेष्ठतम हो।

अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा (पृ. ५१) :— जिसने अतीत के पापों को निन्दा-गर्हा द्वारा हत नहीं किया और जो भविष्यत् के लिए पापों का त्याग कर उनसे निवृत्त नहीं हुआ।

अवसर्पिणी कालचक्र (पृ. ५) :—जैन-दर्शन में वर्णित वस्तु विज्ञान के अनुसार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे दो अर्ध भाग मिलकर एक कालचक्र पूरा करते हैं। कालचक्र का उत्सर्पिणी भाग उत्तरोत्तर उत्थान और अवसर्पिणी भाग क्रमशः अवनति—पतन का समय होता है। क्रमशः उत्क्रान्ति करता हुआ कालचक्र

का आधा उत्सर्पिणी भाग जहां शेष होता है, वहीं से अधोगति करता हुआ कालचक्र का दूसरा अवसर्पिणी भाग आरम्भ हो जाता है।

पूंछ की ओर से मुंह की ओर जिस तरह सर्प की मोटाई उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है, उसी तरह जीवों के संहनन, संस्थान, आयु, अवगाहना, उत्थान, कर्म, बल-वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम; पुद्गलों के रूप, रस, स्पर्श और गन्ध तथा अन्य भाव एवं विषयों में जो क्रमशः उन्नति और वृद्धि का काल हो, वह उत्सर्पिणी काल-भाग कहलाता है।

मुंह की ओर से पूंछ की ओर जिस तरह सर्प की मोटाई क्रमशः ह्रास को प्राप्त होती जाती है वैसे ही उपर्युक्त बातों में क्रमशः अवनति, ह्रास का समय हो, वह अवसर्पिणी काल भाग कहलाता है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी प्रत्येक काल-भाग के छः विभाग होते हैं: जिन्हें जैन-परिभाषा में आरा कहा जाता है। इन आरों के नाम इस प्रकार हैं :—

(१) दुषमा-दुषमा, (२) दुषमा, (३) दुषमा-सुषमा, (४) सुषमा-दुषमा, (५) सुषमा और (६) सुषमा-सुषमा।

उत्सर्पिणी काल-भाग के ६ आरों का क्रम उपर्युक्त रूप से ही है परन्तु अवसर्पिणी के आरों का क्रम ठीक उलटा होता है अर्थात् उसका पहला आरा सुषमा-सुषमा और क्रमशः अन्तिम आरा दुषमा-दुषमा होता है।

उत्सर्पिणी-काल में उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए सुषमा-सुषमा आरे में उच्चतम अवस्था आ जाती है। अवसर्पिणी-काल में

क्रमशः ह्रास होते हुए दुषमा-दुषमा आरे में हीनतम अवस्था आ जाती है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनों काल-भाग बराबर अवधि के होते हैं। अवसर्पिणी भाग का माप इस प्रकार है:—

पहला आरा ४ × (१ करोड़ × १ करोड़) सागर वर्ष
दूसरा आरा ३ × (१ करोड़ × १ करोड़) सागर वर्ष
तीसरा आरा २ × (१ करोड़ × १ करोड़) सागर वर्ष
चौथा आरा १ × (१ करोड़ × १ करोड़) सागर वर्ष
कम ४२००० वर्ष

पाँचवाँ आरा २१००० वर्ष
छठा आरा २१००० वर्ष
१० × (१ करोड़ × १ करोड़ सागर वर्ष)

उपर्युक्त हिसाब से एक काल चक्र २×१० (१ करोड़ × १ करोड़ सागर वर्ष) अर्थात् २० कोटा-कोटी सागर वर्ष का होता है।

अविरति (पृ. ६७) :—व्रत ग्रहण कर पाप से निवृत्त नहीं होना।

अर्हत् (पृ. १) अरिहन्त (पृ. २१) अथवा अर्हन्त (पृ. ११) :—

ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। जो अपनी विशेषताओं के कारण इन्द्रों का भी पूजनीय होता है, उसे अर्हत् कहते हैं।

जिसने चार घनघाती—आत्मस्वभाव को आच्छन्न कर रखने-वाले—कर्म-शत्रुओं का हनन किया है वह 'अरिहन्त' कहलाता है।

जिससे कोई भी रहस्य छिपा न हो वह अर्हन्त कहलाता है।

अभिनिष्क्रमणाभिषेक (पृ. ६८) :—दीक्षा लेने के लिए घर से निकलने के पूर्व दीक्षार्थी का जो अभिषेक किया जाता है।

अपूर्वकरण भाव (पृ. १९) :—ऐसा विशिष्ट शुद्ध आत्म-परिणाम, जिससे जीव राग-द्वेष रूपी दुर्भेद्य ग्रन्थि का उच्छेद करता है। ऐसे परिणाम को अपूर्वकरणभाव इसलिए कहा है कि वह जीव को कदाचित् ही आता है, बार-बार नहीं होता।

अष्ट भक्त (पृ. १७) :—तेला—संलग्न तीन दिन का उपवास।

अंतेवासी (पृ. १२) :—गुरु के समीप रहनेवाला शिष्य।

आगति (पृ. ११):—जीवों का एक योनि से दूसरी योनि में आगमन।

आदक्षिण-प्रदक्षिणा (पृ. १३) :—अंजलिबद्ध हाथों को दाहिनी ओर से प्रारम्भ कर पुन: दाहिनी ओर तक तीन बार घुमाना।

आयंबिल (पृ. ५३) :—इस तप को करते समय दिन में एक वक्त के सिवाय भोजन नहीं किया जाता। भोजन में चावल, उड़द या सत्तू जैसे नीरस पदार्थ के सिवा घी, दूध, दही, तैल और गुड़ एवं इनसे बने पदार्थों का सेवन नहीं किया जाता।

आयुष्यकर्म (पृ. ३५) :—जिस कर्म के उदय से जीव आयुष्य को धारण करता है वह आयुष्य-कर्म है। अर्थात् जीवन-प्राण को टिका रखनेवाला कर्म।

आलोचना (पृ. २८) :—प्रायश्चित के लिए अपने दोषों को गुरु के सम्मुख प्रकट करना।

इभ्य (पृ. ४४) :—आढ्य-धनी। इतने द्रव्यवाला गृहस्थ कि जिसके द्रव्य से आंबाडी सहित हाथी ढंक जाय।

इर्या समिति (पृ. २५) :—सामने की युग-प्रमाण (३।। हाथ प्रमाण) भूमि को देखते हुए यत्नपूर्वक चलने की क्रिया को 'इर्या-समिति' कहते हैं।

ईश्वर (पृ. ४४) :—सामान्य राजा।

उत्तरकुरा शिविका (पृ. ८) :—पालकी का नाम।

उपपात (पृ. ११) :—देव और नारकीय जीवों की उत्पत्ति—जन्म को 'उपपात' कहा जाता है।

एकान्त क्षय (पृ. ३५) :—सम्पूर्णतः क्षय।

एषणा-अनैषणा की आलोचना (पृ २८) :—'एषणा' का अर्थ खोज करना होता है। साधु द्वारा जीवन-यात्रा के लिए आहारादि प्राप्त करने की विधि को 'एषणा' कहते हैं। विधि पूर्वक एषणा—खोज न करने को 'अनैषणा' कहते हैं। एषणा-अनैषणा में लगे हुए दोषों को गुरु के सम्मुख निवेदित करना।

एक हजार आठ लक्षणों के धारक (पृ. ६) :—तीर्थंकर बनने-वाले पुरुष के शरीर में अर्थात् हाथ, पैर, वक्षस्थल तथा देह के अन्य स्थानों में सूर्य, चन्द्र, श्रीवत्स, स्वस्तिक, शंख, चक्र, गदा, ध्वजा आदि के चिह्न होते हैं। इन विविध चिह्नों की कुल संख्या १००८ कही गयी है।

कर्म-निर्जरा में (पृ. २०) :—कर्म-क्षय में, कर्मों को आत्मा से दूर करने मे।

कर्बट (पृ. ४३) :—छोटी दीवार से परिवेष्टित शहर।

कर्म उदीर्ण (पृ. २०):—जो कर्म सामान्यतः भविष्य में फल

देनेवाले हैं उन्हें तपादि से उसी समय उदय में ला—फलोन्मुख कर झाड़ देना।

कला (पृ. २२) :—७२ कलायें ये हैं :—

(१) लेखन, (२) गणित, (३) रूप परिवर्तन, (४) नृत्य, (५) गीत, (६) ताल-कला, (७) वाजित्र, (८) बाँसुरी बजाने की कला, (९) नर लक्षण, (१०) नारी लक्षण, (११) गज लक्षण, (१२) अश्व लक्षण, (१३) दण्ड लक्षण, (१४) रत्न परीक्षा, (१५) धातुवाद, (१६) मन्त्रवाद, (१७) कवित्व शक्ति, (१८) तर्क शास्त्र, (१९) नीति शास्त्र, (२०) तत्व विचार धर्मशास्त्र, (२१) ज्योतिष शास्त्र, (२२) वैद्यक शास्त्र, (२३) षड्भाषा—संस्कृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश, (२४) योगाभ्यास, (२५) रसायन, (२६) अंजन, (२७) स्वप्न शास्त्र, (२८) इन्द्रजाल, (२९) कृषि कर्म, (३०) वस्त्रविधि, (३१) जुआ, (३२) व्यापार, (३३) राजसेवा, (३४) शकुन विचार, (३५) वायुस्तंभन, (३६) अग्नि-स्तंम्भन, (३७) मेघ वृष्टि, (३८) विलेपन, (३९) मर्दन या घर्षण, (४०) ऊर्ध्वंगमन, (४१) सुवर्णसिद्धि, (४२) रूप-सिद्धि, (४३) घाट-बन्धन, (४४) पत्र-छेदन, (४५) मर्म-भेदन, (४६) लोकाचार, (४७) लोकरंजन, (४८) फलाकर्षण, (४९) अफल-फलन, (५०) धार-बन्धन, (५१) चित्रकला, (५२) गाँव बसाना, (५३) छावनियाँ डालना, (५४) शकट युद्ध, (५५) गरुड़-युद्ध, (५६) दृष्टि-युद्ध, (५७) वाग्-युद्ध, (५८) मुष्टि-युद्ध, (५९) बाहु-युद्ध, (६०) दण्ड-युद्ध, (६१) शस्त्र-युद्ध, (६२) सर्प-मर्दन, (६३)

भूतादि मर्दन, (६४) मन्त्र-विधि, (६५) यन्त्र-विधि, (६६) तन्त्र-विधि, (६७) रूप्प पाक-विधि, (६८) स्वर्ण पाक-विधि, (६९) बन्धन, (७०) मारण, (७१) स्तम्भन और (७२) संजीवन।

कषाय (पृ. ६७) :—क्रोध, मान, माया और लोभ का चतुष्टय।

कुमारवास (पृ. ३४) :—कुँवर रूप में।

केवलज्ञान-दर्शन (पृ. १०) :—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घनघाती कर्मों के नाश होने पर समस्त पदार्थों की भूत, भविष्यत् एवं वर्त्तमानकाल की पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना, 'केवल-ज्ञान' है। इसी तरह उक्त पर्यायों को उक्त रूप से देखने की शक्ति का प्रकट होना 'केवल-दर्शन' है। 'केवल' का अर्थ है अद्वितीय। जो अद्वितीय केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के धारक होते हैं वे केवली, जिन, अर्हत्, अरिहन्त, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी आदि कहलाते हैं।

कौतुक-मंगल (पृ. ७) :—रात्रि मे आये हुए दु स्वप्नो के फल के निवारण हेतु तथा शुभ शकुन के लिए चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का तिलक आदि करना 'कौतुक' कहलाता है। सरसों, दही आदि मांगलिक वस्तुओं का दर्शन आदि करना 'मंगल' कहलाता है।

खेड़ (पृ. ४३) :—जिस गाँव के चारों ओर मिट्टी का गढ़ हो।

गति (पृ. ११) :—एक योनि को छोड़कर दूसरी योनि में जाना।

गणधर (पृ. ३४) :—तीर्थंकर के मुख्य शिष्य और गण के अधिनायक।

गाथापति (पृ. १५) :— गृहपति–विशाल ऋद्धि सम्पन्न परिवार का स्वामी ।

ग्यारह अंग (पृ. २३) :— अंग-सूत्र ग्यारह हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) आचारांग-सूत्र, (२) सूत्रकृतांग-सूत्र, (३) स्थानांग-सूत्र, (४) समवायांग-सूत्र, (५) भगवती-सूत्र, (६) ज्ञाताधर्मकथांग-सूत्र (७) उपासकदशांग-सूत्र, (८) अन्तकृतदशांग-सूत्र, (९) अनुत्तरोपपातिक-सूत्र, (१०) प्रश्नव्याकरण-सूत्र और (११) विपाक-सूत्र ।

गुप्त ब्रह्मचारी (पृ. २६) :—मन, वचन, काया को संयम में रखनेवाला ब्रह्मचारी ।

गोत्र कर्म (पृ. ३५) :—जिस कर्म से जीव ऊँच-नीच गोत्र को धारण करता है वह गोत्र कर्म है ।

चतुरंगिनी सेना (पृ. ५६) :—हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों की सेना ।

चतुर्थ भक्त (पृ. २४) :—उपवास ।

चतुष्क, चत्वर (पृ. ६८) :—जहाँ चार मार्ग मिलते हों—चौराहा ।

चारित्र (पृ. ९) :—संयम; साधु का सम्यगाचारण ।

च्यवन (पृ. ११) :—मरण; देवगति का आयुष्य पूर्ण कर मनुष्यादि गति में जाना ।

च्यवकर (पृ.. ५) :—च्युत होकर । देवलोक से निकल कर । जैनागमों में यह शब्द साधारणतः उन आत्माओं के लिए प्रयुक्त

होता है जो आत्माएँ देव आयुष्य पूर्ण कर मनुष्यादि अन्य योनि में जन्म धारण करती हैं।

चैत्यवृक्ष (पृ. ११) :—वह वृक्ष जिसके नीचे केवलज्ञान की —सर्वज्ञत्व की प्राप्ति हुई।

छद्मस्थपर्याय (पृ. १०) :—केवल-ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व की साधु-अवस्था को 'छद्मस्थ-पर्याय' कहते हैं।

जिन (पृ. ११) :—रागद्वेष के विजेता।

आवरणीय (पृ. १६):—आत्मा के आठ गुण हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य, क्षायक सम्यकत्व, अटल अवगाहना, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व। आत्मा के आठ कर्मों का आवरण है। ये आठ कर्म हैं:—ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म, मोहनीय कर्म, आयुष्य कर्म, नाम कर्म, गोत्र कर्म, और अन्तराय कर्म। इन आठ कर्मों के आवरण के नष्ट होने पर उक्त आठ गुण आत्मा में प्रगट होते हैं।

तर्क (पृ. ११) :—साध्य और साधन के अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं।

तीर्थंकर(पृ. ५) :—'तीर्थ' का अर्थ है किनारा अर्थात् जो संसार रूपी समुद्र को पार कराता है वह तीर्थ है। तीर्थ द्वादशांगी रूप प्रवचन है। इस प्रवचन का आधार साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ है। इसके संस्थापक तीर्थंकर कहलाते हैं।

दशार्ह (पृ. ६) :—समुद्रविजय आदि दस योग्यतम पुरुष।

दशार्ह चक्र (पृ. ७) :—समुद्रविजय आदि दस यादवों को दशार्ह कहा जाता है। उनके समूह को 'दशार्ह चक्र' कहा जाता है।

देवानुप्रिय (पृ. १३) :—उस समय का आदर अथवा स्नेह-सूचक सम्बोधन।

देवदुष्य वस्त्र (पृ. १८) :—बहुमूल्य कम्बल, जो इन्द्र ने अरिष्टनेमि के कन्धे पर डाल दी थी।

धर्मयान (पृ. १४) :—धार्मिक-कार्यों के लिए जाने पर प्रयुक्त किया जानेवाला यान—वाहन।

नग्नत्वभाव (पृ. २८):—निर्ग्रन्थता—साधुत्व।

निर्व्याघात (पृ. १०) :—व्याघातरहित—बाधारहित।

नौ योजन (पृ. १३) :—३६ कोस। चार कोस का एक योजन होता है।

पत्तन (पृ. ४३) :—शहर।

पर्याय (पृ. ११) :—लोक के पदार्थों की सूक्ष्म या स्थूल अवस्थाएँ।

पर्युपासना (पृ. १४) :—सेवा, भक्ति।

परठकर—परिस्थापन कर (पृ. २८) :—सूत्रों मे बतायी हुई विधि के अनुसार जीव-जन्तु रहित अचित्त भूमि में विसर्जित कर—त्याग कर।

प्रतिपूर्ण (पृ. १०) :—सब ओर से पूर्ण—किसी प्रकार भी खण्डित नही।

प्रतिलाभित किया (पृ. १३) :—उन्हें लाभान्वित किया-दिया।

प्रव्रज्या (पृ. १६) :—पाँच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन विरमण व्रत ग्रहण कर, घर छोड़, साधु-अवस्था को ग्रहण करना।

पादोपगमन संथारा (पृ. ३३) :—अनशन का एक प्रकार। 'पाद' का अर्थ होता है वृक्ष की छिन्न शाखा। वृक्ष की छिन्न शाखा की

तरह हर अंग से निश्चेष्ट रह, पड़ा रहना—किसी प्रकार का हलन-चलन नहीं करना पादोगमन कहलाता है। किसी प्रकार का हलन-चलन न करते हुए जीवन-पर्यन्त आहार का त्याग करना पादोपगमन संथारा है।

प्रायश्चित (पृ. १५) :—पाप-क्षयकारी कर्म।

पंच-मुष्ठि लोच (पृ. ८) :—मस्तिष्क के, सामने के, पीछे के तथा दोनों बगल के केशों को मुष्ठि द्वारा लुंचित करना—उखाड़ना 'पंच-मुष्ठि लोच' कहलाता है।

पौषधशाला (पृ. १७) :—धर्म-ध्यान करने की जगह।

बयालिस भक्तों का अनशन से छेदन कर (पृ. २५) :—२० दिन का अनशन पूरा कर।

बलिकर्म (पृ. १५) :—देवी-देवताओं को नैवेद्य देना।

महाप्रतिमा (पृ. १८) :—साधु के अभिग्रह विशेष को 'महा-प्रतिमा' कहते हैं। वह १२ प्रकार की है। १२वीं प्रतिमा एक रात्रि की होती है जिसमें श्मशानादि में जाकर एकाग्रभाव से आत्म-चिन्तन करना होता है। उसको 'महा प्रतिमा' कहते हैं।

मास खमन या मास क्षपन (पृ. २६-२७) :—एक महीने का उपवास।

माडंबिक (पृ. २५) :—मण्डम्ब का राजा। 'मडम्ब' ऐसा गाँव जिसके चारों ओर एक योजन तक कोई गाँव न हो।

मानसिक भाव (पृ. ११) :—मनोगत विचार।

मुक्त (पृ. १९) :—जो सम्पूर्ण कर्म क्षय कर जन्म-मरण से रहित होना।

लुंचित (पृ. ९) :—मुण्डित; जिसने केशों को लुंचन कर दूर कर दिया है।

व्युत्सर्गकाय (पृ. १०) :—जो शारीरिक ममता को परित्याग कर स्थित हो वह 'व्युत्सर्गकाय' कहलाता है।

षष्ठ षष्ठ तप (पृ. १२) :—दो-दो दिन का उपवास।

श्रामण्यपर्याय (पृ. २५) :—साधु-जीवन, साधु-अवस्था।

शृंगाटक (पृ. ६८) :—त्रिकोण मार्ग।

समोवसरण (पृ. ३२) :—तीर्थंकर-परिषद् अथवा वह स्थान जहाँ तीर्थंकर का उपदेश होता है।

संलेखना (संलेषणा) (पृ.२८) :—शरीर और कषायादि को क्षीण करने का तप-अनुष्ठान। मरणान्तिक अनशन करने के पूर्व शरीर और कषायों को क्षीण करने के लिए जो तप किया जाता है, उसे 'संलेखणा' कहते हैं।

सागरोपम (पृ. ५) :—सागर-वर्ष किसे कहते है, यह गणना से नही बताया जा सकता। वह उपमा से ही समझा जा सकता है। इसलिए इसे औपमिक-काल कहा जाता है। सूत्र मे इसे पल्य (कूएँ) और केशाग्र की उपमा देकर समझाया गया है।

एक योजन आयाम और विष्कंभक, एक योजन ऊँचाई और तीन योजन परिधिवाले एक पल्य—कूएँ की कल्पना कीजिये। उसे उत्कृष्ट भोग-भूमि में उत्पन्न और १ से ७ दिन के नवजात शिशु के केशों के कोमल-कोमल अग्रभागो से ठसाठस भर दीजिये। सौ-सौ वर्ष बाद उसमें से केश का एक-एक अग्र भाग निकालिये। इस

तरह निकालते-निकालते इस कुएँ को पूर्णतः खाली करने में जितने वर्ष लगेंगे उस अवधि को पल्योपम कहा जाता है। ऐसे कोटि-कोटि पल्योपम को १० गुण करने से, एक सागरोपम होता है।

सामुदानिक भिक्षाटन (पृ. १२) :—एक तरह की भिक्षा पद्धति। उच्चावच कुलों में भ्रमण करते हुए आहार प्राप्त करना।

संघाटक (पृ. १३) :—युग्म टोली।

संहनन वज्रऋषभनाराच (पृ.७) :—हड्डियों के बन्ध विशेष को 'संहनन'-संघयन कहते हैं। 'वज्र' का अर्थ होता है कील। 'वृषभ' का अर्थ है वेष्टन (पट्ट-पट्टी)। 'नाराच' का अर्थ है मर्कट-बन्धन—दो हड्डियों की छोर का एक-दूसरे के साथ में बन्धन। जिस संहनन में मर्कट-बन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्ट की आकृतिवाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और जिसमें इन तीनों हड्डियों को भेदनेवाली वज्र नामक हड्डियों की कील हो उसे 'वज्रऋषभनाराच संहनन' कहते हैं।

यह संहनन सर्वोत्तम माना जाता है। यह अस्थि-बन्ध, अश्व सहित रथ के ऊपर से निकल जाने पर भी छिन्न नहीं होता।

संस्थान समचतुरस्र (पृ. ७) :—शरीर के आकार को 'संस्थान' कहते हैं। 'सम' का अर्थ है समान, 'चतुः' का अर्थ है चार और 'अस्र' का अर्थ है 'कोण'। पलथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् पलथी के मध्य-प्रदेश और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, वाम स्कन्ध और दक्षिण जानु का अन्तर तथा दक्षिण स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर-चारों

अन्तर समान हों उसे 'समचतुरस्र संस्थान' कहते हैं। यह संस्थान सर्वांग सुन्दर—सब संस्थानों में श्रेष्ठ माना गया है।

स्थविर (पृ. २६) :—वृद्ध—ज्ञान और वय से अनुभवी मुनि को स्थविर कहा जाता है। २० वर्ष के दीक्षित साधु को 'दीक्षा-स्थविर' और ६० वर्ष की उम्रवाले को 'वय-स्थविर' कहा गया है।

स्थंडिल भूमि (पृ. १८) :—शौच जाने की जगह।

सिद्ध (पृ. १६) :—सम्पूर्ण कर्म रहित।

स्थिति (पृ. ११) :—किसी एक जन्म के आयुष्य-मान को स्थिति कहते हैं। जीवन, काल और स्थिति एकार्थक है।

हरिणेगमेषी देव (पृ. १५) :—शक्रेन्द्र का सेनापति एवं दूत। यह गर्भ संहरण का भी काम करता है। इसका मुख हरिण की तरह होता है इसलिए इसे हरिणेगमेषी देव कहा जाता है।

परिशिष्ट–ख

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण-कालीन व्यक्तियों के नाम :

परिशिष्ट—ग

समकालीन स्थान और नगर

परिशिष्ट--ग--१

रथनेमि और राजिमती*

(पृष्ठ २६ पर रथनेमि और राजिमती के जीवन में जो घटना घटी उसकी ओर संकेत किया गया है। उस घटना का वर्णन नीचे दिया जाता है।) :--

मिथिला नगरी में उग्रसेन नामक एक उच्चवंशीय राजा राज्य करते थे। इनकी रानी का नाम धारिणी था। इनके पुत्र का नाम कंस और पुत्री का नाम राजिमती था। राजिमती अत्यन्त सुशीला, सुन्दरी और सर्वलक्षण-सम्पन्ना राजकन्या थी। उसकी कान्ति विद्युत की तरह देदीप्यमान थी।

उस समय सोरियपुर नगर में वसुदेव, समुद्रविजय वगैरह दस दशार्ह (यादव) भाई रहते थे। सब से छोटे भाई वसुदेव की दो रानियाँ थीं---रोहिणी और देवकी। प्रत्येक रानी को एक-एक राजकुमार था जिनके नाम क्रमशः राम (बलभद्र) और केशव (कृष्ण) थे।

राजा समुद्रविजय की पत्नी का नाम शिवा था। शिवा की कुक्षि से एक महा भाग्यवान और यशस्वी पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम अरिष्टनेमि रखा गया। अरिष्टनेमि जब काल पाकर

---

* उत्तराध्ययन सूत्र : अ २२ के आधार पर।

युवा हुए तो इनके लिए केशव ने राजिमती की मांग का प्रस्ताव राजा उग्रसेन के पास भेजा।

अरिष्टनेमि शौर्य-वीर्य आदि सब गुणों से सम्पन्न थे। उनका स्वर बहुत सुन्दर था। उनका शरीर सर्व शुभ लक्षणों व चिह्नों से युक्त था। शरीर-सौष्ठव और आवृत्ति उत्तम कोटि की थी उनका वर्ण श्याम था और पेट मछली के आकार का-सा सुन्दर।

ऐसे सर्वगुण-सम्पन्न राजकुमार के लिए राजिमती की मांग को सुनकर राजा उग्रसेन के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने कृष्ण को कहला भेजा—"यदि अरिष्टनेमि विवाह के लिए मेरे घर पर पधारें, तो राजिमती का पाणिग्रहण उनके साथ कर सकता हूँ।"

कृष्ण ने यह बात मंजूर की और विवाह की तैयारियां होने लगी।

नियत दिन आने पर कुमार अरिष्टनेमि को उत्तम औषधियों से स्नान कराया गया। अनेक कौतुक और मांगलिक कार्य किये गये। उत्तम वस्त्राभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया गया। वसुदेव के सब से बड़े गन्धहस्ती पर उनको बैठाया गया। उनके सिर पर उत्तम छत्र सुशोभित था। दोनों ओर चँवर डुलाये जा रहे थे। यादववंशी क्षत्रियों से वे घिरे हुए थे। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल वीरों की चतुरंगिणी सेना उनके साथ थी। भिन्न-भिन्न वाद्य-यन्त्रों के तुमुल और गगनभेदी शब्दों से आकाश गुँजायमान हो रहा था।

इस प्रकार सर्व प्रकार की ऋद्धि और सिद्धि के साथ यादव-कुलभूषण अरिष्टनेमि ने पिंजरों और बाड़ों में भरे हुए और भय से

काँपते हुए दुःखित प्राणियों को देखा। यह देखकर उन्होंने अपने सारथी से पूछा—"सुख के कामी इन प्राणियों को इन बाड़ों और पिंजरों में क्यों रखा गया है?"

सारथी ने उत्तर दिया—"ये पशु बड़े भाग्यशाली हैं, कि आपके विवाहोत्सव में आये हुए बारातियों की दावत के लिए हैं।"

सारथी के मुख से इस हिंसापूर्ण प्रयोजन की बात सुन कर जीवों के प्रति दयावृत्ति-अनुकम्पा रखने वाले महामना अरिष्टनेमि सोचने लगे—"यदि मेरे ही कारण से ये सब पशु मारे जायँ तो मेरे लिए यह इस लोक या परलोक में कल्याणकारी नहीं हो सकता।"

यह विचार कर यशस्वी नेमिनाथ ने अपने कान के कुण्डल, कण्ठसूत्र और सर्व आभूषण उतार डाले और सारथी को सौंप दिये और वहीं से वापस द्वारिका को चले आये। द्वारिका से वे रैवतक पर्वत पर गये और वहाँ एक उद्यान में अपने ही हाथ से अपने केशों का लुंचन कर उन्होंने प्रव्रज्या अंगीकार की।

उस समय वासुदेव ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया—"हे दमेश्वर! आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र पावें, तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा और निर्लोभता द्वारा अपनी उन्नति करें।"

इसके बाद राम, केशव, इतर यादव और नागरिक अरिष्टनेमि को वन्दन कर द्वारिका वापस आये।

जब राजकन्या राजिमती को यह मालूम हुआ कि अरिष्टनेमि ने एकाएक दीक्षा ले ली है तो उसकी सारी हँसी-खुशी काफूर हो

गयी और वह शोक-विह्वल हो उठी। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया और किसी अन्य योग्य वर से विवाह करने का आश्वासन दिया; परन्तु, राजिमती इससे सहमत न हुई। उसने विचार किया —"उन्होंने (अरिष्टनेमि ने) मुझे त्याग दिया। युवा होने पर भी मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया! वह धन्य है! मेरे जीवन को धिक्कार है कि मैं अब भी उनके प्रति मोह रखती हूँ! अब मुझे इस संसार में रह कर क्या करना है? मेरे लिए भी यही श्रेयस्कर है कि मैं दीक्षा ले लूँ।"

ऐसा दृढ़ विचार कर राजिमती ने कांगसी-कंघी से सँवारे हुए अपने भँवर जैसे काले केशों को उपाड डाला। सर्व इन्द्रियों को जीत कर, रुण्ड-मुण्ड हो दीक्षा के लिए तैयार हुई। राजिमती को कृष्ण ने आशीर्वाद दिया—"हे कन्या! इस भयंकर संसार-सागर से तू शीघ्र तर।" राजिमती ने प्रव्रज्या ली।

दीक्षा लेने के बाद राजिमती एक बार रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी। राह में मुसलाधार वर्षा होने से उसके वस्त्र भीग गये और उसने पास की ही एक अन्धेरी गुफा में आश्रय लिया। वहाँ एकान्त समझ कर राजिमती ने अपने समस्त वस्त्र उतार डाले और सूखने के लिए फैला दिये।

समुद्रविजय के पुत्र और अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि प्रव्रजित होकर उसी गुफा में ध्यान कर रहे थे। राजिमती को सम्पूर्ण नग्न अवस्था में देखकर उनका मन चलित हो गया। इतने में एकाएक राजिमती की दृष्टि भी उन पर पड़ी। उन्हें देखते ही

राजिमती सहम गयी। वह भयभीत होकर काँपने लगी और अपनी बाहुओं से अपने अंगों को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गयी।

राजिमती को भयभीत देखकर काम-विह्वल रथनेमि बोले—"हे सुरूपे! हे चारुभाषिणी! मैं रथनेमि हूँ। हे सुतनु! तू मुझे अंगीकार कर। तुम्हें जरा भी संकोच करने का प्रयोजन नहीं। आओ! हम लोग भोग भोगें। यह मनुष्य-भव बार-बार दुर्लभ है। भोग भोगने के पश्चात् हम लोग पुनः जिन-मार्ग ग्रहण करेंगे।"

राजिमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है और वे वासना से हार चुके हैं, तो भी उसने हिम्मत नही हारी और अपने बचाव का रास्ता करने लगी। संयम और व्रतों में दृढ़ होती हुई तथा अपनी जाति, शील और कुल की लज्जा का ध्यान रखती हुई, वह रथनेमि से बोली :—

"भले तू रूप में वैश्रमण सदृश हो, भोग-लीला में नल-कुबेर हो या साक्षात् इन्द्र हो, तो भी मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती"।

अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्ज्वलित अग्नि में जल कर मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किये हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।"

"हे कामी! वमन की हुई वस्तु को खाकर तू जीवित रहना चाहता है! इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है। धिक्कार है तुम्हारे नाम को!"

"मैं भोगराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ और तू अंधक वृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र। हम लोगों को गन्धन-कुल के सर्प की तरह नहीं होना चाहिए। अपने उत्तम कुल की ओर ध्यान देकर संयम में दृढ़ रहना चाहिये।"

"अगर स्त्रियों को देख-देख कर तू इस तरह प्रेम-राग किया करेगा तो हवा से हिलते हुए ताड़ वृक्ष की तरह चित्त समाधि को खो बैठेगा।"

"जैसे ग्वाल गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धन की रक्षा करने से उनका मालिक होता है, वैसे ही तू केवल वेष की रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा। इसलिए तू सम्भल और संयम में स्थिर हो।"

"जो मनुष्य संकल्प-विषयों के वश हो पग-पग पर विषाद-युक्त शिथिल हो जाता है, और काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन किस तरह कर सकता है?"

"जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और पलंग आदि भोग-पदार्थों का परवशता से—उनके अभाव में सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कान्त भोग सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता।"

"यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् यह मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि वह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।"

"आत्मा को कसो, सुकुमारता का त्याग करो, वासनाओ को जीतो, सयम के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न करो, विषयो के प्रति राग-भाव का उच्छेद करो। ऐसा करने से शीघ्र ही सुखी बनोगे।"

साध्वी राजिमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुन कर, जैसे अकुश से हाथी रास्ते पर आ जाता है, वैसे ही रथनेमि का मन स्थिर हो गया।

रथनेमि मन, वचन और काया से सुसयमी और जितेन्द्रीय बने और व्रतो की रक्षा करते हुए जीवन-पर्यन्त शुद्ध श्रमणत्व का पालन करते रहे। इस प्रकार जीवन बिताते हुए दोनो ने उग्र तप किया और दोनो केवली बने तथा सब कर्मो का अन्त कर उत्तम सिद्ध गति को पहुँचे।

राजिमती सहम गयी। वह भयभीत होकर काँपने लगी और अपनी बाहुओं से अपने अंगों को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गयी।

राजिमती को भयभीत देखकर काम-विह्वल रथनेमि बोले—"हे सुरूपे! हे चारुभाषिणी! मैं रथनेमि हूँ। हे सुतनु! तू मुझे अंगीकार कर। तुम्हें ज़रा भी संकोच करने का प्रयोजन नहीं। आओ! हम लोग भोग भोगें। यह मनुष्य-भव बार-बार दुर्लभ है। भोग भोगने के पश्चात् हम लोग पुनः जिन-मार्ग ग्रहण करेंगे।"

राजिमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है और वे वासना से हार चुके हैं, तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी और अपने बचाव का रास्ता करने लगी। संयम और व्रतों में दृढ़ होती हुई तथा अपनी जाति, शील और कुल की लज्जा का ध्यान रखती हुई, वह रथनेमि से बोली :—

"भले तू रूप में वैश्रमण सदृश हो, भोग-लीला में नल-कुबेर हो या साक्षात् इन्द्र हो, तो भी मैं तुम्हारी इच्छा नहीं करती"।

अगंधन कुल में उत्पन्न हुए सर्प प्रज्वलित अग्नि में जल कर मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किये हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।"

"हे कामी! वमन की हुई वस्तु को खाकर तू जीवित रहना चाहता है! इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है। धिक्कार है तुम्हारे नाम को!"

"मैं भोगराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ और तू अंधक वृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र। हम लोगों को गन्धन-कुल के सर्प की तरह नहीं होना चाहिए। अपने उत्तम कुल की ओर ध्यान देकर संयम में दृढ़ रहना चाहिये।"

"अगर स्त्रियों को देख-देख कर तू इस तरह प्रेम-राग किया करेगा तो हवा से हिलते हुए ताड़ वृक्ष की तरह चित्त समाधि को खो बैठेगा।"

"जैसे ग्वाल गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धन की रक्षा करने से उनका मालिक होता है, वैसे ही तू केवल वेष की रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा। इसलिए तू सम्भल और संयम में स्थिर हो।"

"जो मनुष्य संकल्प-विषयों के वश हो पग-पग पर विषाद-युक्त शिथिल हो जाता है, और काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रमणत्व का पालन किस तरह कर सकता है?"

"जो वस्त्र, गन्ध, अलंकार, स्त्री और पलंग आदि भोग-पदार्थों का परवशता से—उनके अभाव में सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कान्त भोग सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता।"

"यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् यह मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि वह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूँ, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।"

"आत्मा को कसो, सुकुमारता का त्याग करो, वासनाओ को जीतो, सयम के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न करो, विषयो के प्रति राग-भाव का उच्छेद करो। ऐसा करने से शीघ्र ही सुखी बनोगे।"

साध्वी राजिमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुन कर, जैसे अकुश से हाथी रास्ते पर आ जाता है, वैसे ही रथनेमि का मन स्थिर हो गया।

रथनेमि मन, वचन और काया से सुसयमी और जितेन्द्रीय बने और व्रतो की रक्षा करते हुए जीवन-पर्यन्त शुद्ध श्रमणत्व का पालन करते रहे। इस प्रकार जीवन बिताते हुए दोनो ने उग्र तप किया और दोनो केवली बने तथा सब कर्मो का अन्त कर उत्तम सिद्ध गति को पहुँचे।